विषय-सूची

दो शब्द

हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्वरूप पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क का
णाम है और यही कारण है कि वह अपने मूलरूप संस्कृत से इतना भिन्न है।

राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमांसा' में वाङ्मय को दो प्रकार का माना
—१. शास्त्र और २. काव्य। शास्त्र 'पौरुषेय' तथा 'अपौरुषेय' बताए
ए हैं। अपौरुषेय शास्त्र केवल 'श्रुति' है जिनकी आदि संख्या तीन है और
क्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष जिनके छः वेदांग हैं। 'पौरुषेय'
ास्त्र चार हैं—पुराण, आन्वीक्षिकी (तर्कशास्त्र), मीमांसा और स्मृति।

शास्त्र के ये भेद विचारप्रधान माने गए हैं और इनका एकमात्र आधार
त्य है। काव्य को ऐसा मानने का कारण यह है कि यह गद्यपद्यमय है,
विरचित है और हितोपदेशक है। यह काव्य शास्त्रों का अनुकरण करता है।

शास्त्रों के निबन्धन का वर्णन करते हुए राजशेखर ने सूत्र-वृत्ति, भाष्यादि
ा वर्णन किया है। जिसमें अक्षर कम हों—जिसका अर्थ स्पष्ट, गंभीर तथा
व्यापक हो—उसे सूत्र कहते हैं। सूत्रों का सारांश जिसमें वर्णित हो वह 'वृत्ति'
कहलाता है। सूत्र और वृत्ति के विवेचन (परीक्षा) को 'पद्धति' कहते हैं।
समें कहे हुए सिद्धान्तों पर आक्षेप करके फिर उसका समाधान कर उन
सिद्धान्तों का विवरण जिसमें हो उसे 'भाष्य' कहते हैं। भाष्य के बीच में
कृत विषय को छोड़कर दूसरे विषय का जो विचार किया जाय उसे 'समीक्षा'
हते हैं। इन सब में जितने अर्थ सूचित हों उन सब का यथा संभव 'टीकन'
स्लेष—जहां हो उसे 'टीका' कहते हैं। इसी प्रकार 'पञ्जिका', 'कारिका' और
वार्तिक' भी होते हैं।

मानना पड़ेगा, कि आलोचना का क्षेत्र काफी विस्तृत होगया और उसमें मिश्रबन्धु, द्विवेदीजी, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, बख्शीजी, पद्मसिंह शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचक उत्पन्न हुए जिनमें से अधिकांश सौभाग्यवश अभी तक वर्तमान है ।

हिन्दी के इस विस्तृत आलोचना साहित्य को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. साहित्य-समीक्षा—इस प्रकार की आलोचनाओं में अधिकतर फुटकर पुस्तकों की आलोचना है ।

२. खोज और अध्ययन—उदाहरण के लिए गुलेरीजी की 'पुरानी हिन्दी' अथवा डा० धीरेन्द्र वर्मा का "हिन्दी की बोलियाँ और प्राचीन जनपद"

३. समालोचना सिद्धान्त—डा० श्यामसुन्दरदास तथा बख्शीजी अभी तक भी इस विभाग में प्रमुख लेखक हैं ।

४. गंभीर आलोचना—शुक्लजी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि आलोचकों के नाम सुगमता से लिए जा सकते हैं ।

'साहित्य-संदेश' मासिक द्वारा भी सुरुचिपूर्ण आलोचना का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है ।

इधर कुछ वर्षों से, जैसा आरम्भ में उल्लेख किया जा चुका है, हमारे नवीन आलोचक कुछ पश्चिमीय सिद्धान्तों के आधार पर भी हिन्दी के काव्य ग्रन्थों की आलोचना करने लगे हैं जो उपयुक्त भी नहीं और न्यायसंगत भी नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास और उसके वर्तमान भिन्न रूपों को हिन्दी पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया गया है ।

मनोरथ विशाल और परिणाम सूक्ष्म है । आशा है इस छोटे से प्रयास ...ारे साहित्य के इस अङ्ग का वैज्ञानिक अध्ययन करने की प्रेरणा ... ।

... लेखकों के लेखों का उपयोग इसमें किया गया है ...ाद करते हैं ।

—सोमनाथ गुप्त

मीमांसा के लिए पाँच सम्प्रदाय मान्य हुए :—

१ रस संप्रदाय—इस संप्रदाय में रस को ही काव्य की आत्मा माना।

२. अलंकार ,, —शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करनेवाली रचना ही काव्य है।

३. रीति ,, —माधुर्य आदि गुणों से विशेष प्रकार से युक्त-पदों वाली रचना ही काव्य है।

४ वक्रोक्ति संप्रदाय—अलंकार, गुण, रस और ध्वनि तथा चातुर्ययुक्त या व्यंग्य-गर्भ विचित्र उक्ति ही काव्य है।

५. ध्वनि ,, —जिस रचनामें वाच्य और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ वहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान हो।

इन पाँचों संप्रदायों के आधार पर ही काव्य की आलोचना हुई है परन्तु इनमें भी प्रधानता केवल तीन को मिली है—रस, अलंकार और ध्वनि और भावनात्मक ढंग से तो अधिकतर रस संप्रदाय ही सब मे रह रहा है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि उन्होंने अपनी आलोचनाओं में बहुत कुछ पश्चिमी मनोवैज्ञानिक शैली का भी मिश्रण किया है।

उपरोक्त दृष्टि से विवरण से यह तो पता चल जाता है कि हमारी हिन्दी आलोचना की मूल प्रेरणा और चेतना क्या थी? शास्त्र और काव्य का भेद न मानकर पश्चिमी विचारधारा के अनुसार हम काव्य को जो 'एक कला' मान लेते हैं—यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा के बिल्कुल विपरीत है। काव्य सम्बन्धी इसमें जो नियम हैं वे ही काव्य मीमांसा में मान्य होने चाहिए।

हमारी हिन्दी साहित्य आलोचना का इतिहास भी अधिक पुराना नहीं है। सब से पहले 'आनन्दकादम्बिनी' पत्र में उसके सम्पादक स्व० बद्रीनारायणजी 'प्रेमघन' ने बा० श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक की आलोचना की थी। उसमें उन्होंने नाटक के दोष दिखाने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् द्विवेदी जी ने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में ला० सीतारामजी द्वारा अनुवादित कालिदास के ग्रंथों में भाषा सम्बन्धी दोष दिखाये। सन् १९०० के लगभग द्विवेदीजी के दो ग्रंथ और निकले—'विक्रमांकदेवचरित चर्चा' और 'नैषध चरित चर्चा'। ये वास्तव में 'चर्चा' ग्रंथ ही थे और इनमें दो संस्कृत काव्यों का परिचय हिन्दी में दिया गया है। बीसवीं शताब्दी में आते आते, यह

मीमांसा के लिए पाँच सम्प्रदाय मान्य हुए :—

१. रस संप्रदाय—इस संप्रदाय ने रस को ही काव्य की आत्मा माना।
२. अलंकार ,, —शब्दार्थ द्वारा अलंकृत करनेवाली रचना ही काव्य है।
३. रीति ,, —माधुर्य आदि गुणों से विशेष प्रकार से युक्त-पदों वाली रचना ही काव्य है।
४ वक्रोक्ति संप्रदाय—अलंकार, गुण, रस और ध्वनि तथा चातुर्ययुक्त वा व्यंग्य-गर्भ विचित्र उक्ति ही काव्य है।
५. ध्वनि ,, —जिस रचनामें वाच्य और लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त व्यंग्यार्थ जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान हो।

इन पाँचों संप्रदायों के आधार पर ही काव्य की आलोचना हुई है परन्तु इनमें भी प्रधानता केवल तीन को मिली है—रस, अलंकार और ध्वनि को। व्यवहारात्मक ढंग से तो अधिकतर रस-संप्रदाय ही सब से दृढ़ रहा है। हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल इसी संप्रदाय के अनुयायी थे यद्यपि उन्होंने अपनी आलोचनाओं में बहुत कुछ पश्चिमी मनोवैज्ञानिक शैली का भी मिश्रण किया है।

उपरोक्त छोटे से विवरण से यह तो पता चल जाता है कि हमारी हिन्दी आलोचना की मूल प्रेरणा और चेतना क्या थी ? शास्त्र और काव्य का भेद न जानकर पश्चिमी विचारधारा के अनुसार हम काव्य को जो 'एक कला' मान लेते हैं—यह दृष्टिकोण भारतीय परम्परा के बिलकुल विपरीत है। काव्य सम्बन्धी हमारे जो नियम हैं वे ही काव्य मीमांसा में मान्य होने चाहिए।

हमारी हिन्दी साहित्य आलोचना का इतिहास भी अधिक पुराना नहीं है सब से पहले 'कादम्बिनी' पत्र में उसके सम्पादक स्व० बद्रीनारायणजी 'प्रेमघन' ने ला० श्रीनिवासदास के संयोगिता-स्वयम्बर' नाटक की आलोचना की थी उसमें उन्होंने नाटक के दोष दिखाने का प्रयत्न किया है। इसके पश्चात् द्विवेदी जी ने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में ला० सीतारामजी द्वारा अनुवादित [illegible] ग्रंथों में भाषा सम्बन्धी दोष दिखाये। सन् १९०० के लगभग [illegible] जी के दो ग्रंथ और निकले—'विक्रमांकदेव-चरित चर्चा' और 'नैषध चरित चर्चा'। ये वास्तव में 'चर्चा' ग्रंथ ही थे और इनमें दो संस्कृत काव्यों का परिचय हिन्दी में दिया गया है। बीसवीं शताब्दी में आते आते, यह

मानना पड़ेगा, कि आलोचना का क्षेत्र काफ़ी विस्तृत होगया और उसमें मिश्रबन्धु, द्विवेदीजी, किशोरीलाल गोस्वामी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्याम-सुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, बख्शीजी, पद्मसिंह शर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचक उत्पन्न हुए जिनमें से अधिकांश सौभाग्यवश अभी तक वर्तमान हैं।

हिन्दी के इस विस्तृत आलोचना साहित्य को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. साहित्य-समीक्षा—इस प्रकार की आलोचनाओं में अधिकतर फुटकर पुस्तकों की आलोचना है।

२. खोज और अध्ययन—उदाहरण के लिए गुलेरीजी की 'पुरानी हिन्दी' अथवा डा० धीरेन्द्र वर्मा का "हिन्दी की बोलियाँ और प्राचीन जनपद"

३. समालोचना सिद्धान्त—डा० श्यामसुन्दरदास तथा बख्शीजी अभी तक भी इस विभाग में प्रमुख लेखक हैं।

४. गंभीर आलोचना—शुक्लजी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी आदि आलोचकों के नाम सुगमता से लिए जा सकते हैं।

'साहित्य-सन्देश' मासिक द्वारा भी सुरुचिपूर्ण आलोचना का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है।

इधर कुछ वर्षों से, जैसा आरम्भ में उल्लेख किया जा चुका है, हमारे नवीन आलोचक कुछ पश्चिमीय सिद्धान्तों के आधार पर भी हिन्दी के काव्य ग्रन्थों की आलोचना करने लगे हैं जो उपयुक्त भी नहीं और न्यायसंगत भी नहीं।

प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी आलोचना के क्रमिक विकास और उसके वर्त्तमान भिन्न रूपों को हिन्दी पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया गया है।

मनोरथ विशाल और परिणाम सूक्ष्म है। आशा है इस छोटे से प्रयास से हमारे साहित्य के इस अङ्ग का वैज्ञानिक अध्ययन करने की प्रेरणा मिल सकेगी।

अन्त में जिन विद्वान लेखकों के लेखों का उपयोग इसमें किया गया है उनके प्रति हम कृतज्ञता प्रगट करते हैं।

—सोमनाथ गुप्त

अंकुर-रूप ही में इनके दर्शन होते हैं। हाँ, जैन लेखकों ने इस तरह के कुछ अच्छे-अच्छे ग्रंथ ज़रूर लिखे हैं; परन्तु उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है। सम्भव है, ऐसी पुस्तकें बहुत रही हों, पर वे सब अब उपलब्ध नहीं। इन पुस्तकों में कथा-कहानियों के बहाने धर्मतत्त्व और सदाचार की शिक्षा दी गई है। इनको छोड़कर संस्कृत-भाषा में लिखी गई कथा-सरित्सागर, कादंबरी, वासवदत्ता और दशकुमारचरित आदि पुस्तकों से कोई विशेष शिक्षा नहीं मिल सकती; मानस-शास्त्र के आधार पर किये गये चरित्र चित्रण की स्वाभाविकता भी सर्वत्र देखने को नहीं मिलती। हाँ, किसी हद तक इनसे मनोरंजन ज़रूर होता है। बस।

प्रकृत उपन्यास-साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचालन का श्रेय पश्चिमी देशों ही के लेखकों को है। उन्होंने साहित्य के इस अंग को कला की सीमा तक पहुँचा दिया है—उन्होंने इसे कला का रूप दिया है। उन्होंने इस अंग के कलानिरूपण-सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके इस निरूपण का अनुशीलन करके हम जान सकते हैं कि उपन्यास किसे कहते हैं; आख्यायिका किसे कहते हैं; उनमें क्या गुण होने चाहिएँ; उनकी रचना में किन बातों की गणना दोष में है, इत्यादि

यह बात नहीं कि जिन लोगों ने पश्चिमी पण्डितों के इस प्रकार के निरूपणात्मक लेख या ग्रंथ नहीं पढ़े वे कदापि कोई अच्छा उपन्यास लिख ही नहीं सकते। जिनको मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान है, जो अपने विचार मनोमोहक भाषा द्वारा प्रकट कर सकते हैं, जो यह जानते हैं कि समाज का रुख किस तरफ़ है और किस प्रकार की रचना से उसे लाभ और किस प्रकार की रचना से हानि पहुँच सकती है, वे पश्चिमी पण्डितों के तत्त्वनिरूपण का ज्ञान प्राप्त किये बिना भी अच्छे उपन्यास लिख सकते हैं।

साहित्य के इस अंग में बंग-भाषा के कई सुलेखक कृतकार्य्य हुए हैं। विद्यमान लेखकों में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इस समय सबसे आगे हैं। उनके "गोरा" नामक उपन्यास में, सुनते हैं, अच्छे उपन्यास के अनेक गुण पाये जाते हैं। तथापि बंगला-भाषा के उपन्यास लेखकों

न करेंगे। अस्तु, यह तो अवांतर बात हुई। "लीडर" में समालोचना का उल्लेख हमने और ही मतलब से किया है। वह यह कि अब अंगरेज़ी भाषा के सैकड़ों उपन्यास चाट जानेवाले लोग हिन्दी में लिखे गये उपन्यास पढ़ने लगे हैं और अखबारों के लम्बे-लम्बे चार-चार पांच-पांच कालमों में उनकी आलोचना भी करने लगे हैं। अच्छे समझ कर ही अंगरेज़ी-दां समालोचक ने पूर्वोक्त पुस्तकों की समालोचना लिखने और छपाने का श्रम उठाया है। फिर चाहे उसने स्वतः प्रवृत्त होकर यह काम किया हो, चाहे किसी के ... से किया हो।

ऊपर जिन दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ वे अनुवादमात्र हैं। हिंदी के सौभाग्य से इन प्रान्तों में एक ऐसे भी उपन्यास-लेखक प्रकाश में आ रहे हैं जिनके उपन्यास, सुनते हैं, उन्हीं का उपज है। "सुनते हैं", इसलिए, क्योंकि हमको उनका उपज का स्वतः कुछ भी ज्ञान नहीं। उनके जिन दो उपान्यासों की आलोचनाओं और विज्ञापनों की धूम कुछ समय से है, व हमारे देखने में नहीं आये। उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुए कुछ समय हुआ। दूसरा अभी हाल ही में निकला है। उसका नाम "सेवाश्रम" या कुछ इसी तरह का है। इन उपन्यासों की जहाँ और अनेक लेखकों ने स्तुति और प्रशंसा की है वहाँ एक आग ने पिछले उपन्यास में बहुत से दोष भी ढूँढ़ निकाले हैं और व्याख्या सहित उन्हें दिखाया भी है। दोषोद्भावना करने में दोषदर्शक ने उपन्यास-लेखक के क़ानूनी-अज्ञान, मन शास्त्रविषयक-अज्ञान, सामाजिक नियम-सम्बन्धी अज्ञान, आदि दिखाने का प्रयत्न किया है। यह अज्ञान-परम्परा उपन्यास-लेखक के किसी पक्षपाती को मान्य नहीं हुई; और, सम्भव है, ख़ुद लेखक को भी मान्य न हो। इसीसे इन आक्षेपों का खंडनात्मक उत्तर भी कहीं हमने पढ़ा है। स्मरण ना नहीं रहता है।

अच्छा तो उपन्यासों के गुण-दोषों की परख क्या है? इसके उत्तर हम अपनी तरफ से अधिक नहीं लिख सकते और लिखना भी

नहीं चाहते, क्योंकि हम इस विषय के ज्ञाता नहीं। अतएव हम उपन्यास-रहस्य के कुछ ज्ञाताओं के कथन के आधार पर ही कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

मनुष्य जो काम करता है, मन की प्रेरणा से करता है। और मन से सम्बन्ध रखने वाला एक शास्त्र ही जुदा है। वह मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान कहाता है। उपन्यासों में मनुष्यों ही के चरित्रों, और मनुष्यों ही के कार्यों तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का वर्णन रहता है। उनमें स्वाभाविकता लाने के लिये मनोविज्ञान का जानना जरूरी है। बिना इस शास्त्र के ज्ञान के मन की गति और मन की वास्तविक स्थिति नहीं जानी जा सकती। किस प्रकार की मानसिक प्रेरणा से कैसा काम होता है अथवा कैसे कारण से कैसे कार्य्य की उत्पत्ति होती है, इसका यथार्थ ज्ञान तभी हो सकता है जब मन के विविध भावों और उनके कार्य-कारण-सम्बन्ध का ज्ञान हो। अतएव उपन्यास लेखक के लिये मनोविज्ञान के कम से कम स्थूल नियमों का जानना अनिवार्य्य होना चाहिये। उपन्यास लिखने वाला कल्पना से भी काम ले सकता है, और बिना ऐसा किये उसका काम चल ही नहीं सकता। पर उसकी भित्ति सत्य के आधार पर होनी चाहिये। उसके घटनानिवेश और चरित्र-चित्रण में अतिमानुषता और अतिरंजना न होनी चाहिये। इस दोष से तभी बचाव हो सकता है जब लेखक को मनःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञता हो। अन्यथा भाव-विश्लेषण ठीक ठीक नहीं हो सकता।

उपन्यास-रहस्य के ज्ञाताओं के दो दल हैं। ऊपर जो कुछ लिखा गया वह पहले दल की सम्मति है। इस सम्मति का सारांश यह है कि मनोविज्ञान या मानस-शास्त्र के नियम जहां-जहां ले जायँ उपन्यासकार को वहीं-वहीं जाना चाहिये और तदनुसार ही घटनावलियों और चरित्रों की सृष्टि करनी चाहिये। अनिष्ट-प्राप्ति से मनुष्य का मन विचलित हो उठता है और वह विलाप करने लगता है। यह मानसिक नियम है। पहले दल के क़ायल लेखक इसी का अनुगमन करके ५.

निर्माण करेंगे। यदि किसी पक्के वेदांती या विरागी को अनिष्ट-आ से कुछ भी दुःख न हो तो वे उसे अपवाद या नियम-विरुद्ध बा समझेंगे।

दूसरे दल के अनुयायियों का कहना है कि मनोविज्ञान के नियमं को आधारभूत तो जरूर मानना चाहिये, पर सदा ही उनमें अपने विचार-परम्परा को जकड़ लेना ठीक नहीं। सभी घटनाओं और मन भावों के सम्बन्ध में मनःशास्त्र से संश्रय रखने की चेष्टा से कहानि रोचक और स्वाभाविक नहीं हो सकती। क्योंकि मनुष्य के मन प मनोविज्ञान के नियमों की अखण्ड सत्ता नहीं देखी जाती। मनःशास्त्र में जिस कारण से जैसे से कार्य की उत्पत्ति होना वर्णित है उस कारण कभी-कभी वैसा कार्य उत्पन्न नहीं होता। अतएव जैसी घटनाएँ लो में हुआ करती हैं और मनुष्य-समाज में जैसे कार्य-कारण-भाव देख में प्रायः आया करते हैं, तदनुकूल ही उपन्यास रचना होनी चाहिए मनुष्य का मानसिक-भाव उसे जिस अवस्था को ले जाय उसी का वर्ण करना चाहिए; इस बात की परवाह न करनी चाहिये कि मनोविज्ञान अनुसार तो ऐसी अवस्था प्राप्त ही नहीं हो सकती; अतएव इसका वर्ण त्याज्य है। घटनावली के निदर्शन और भावों के चित्रण की तह मनोविज्ञान रहे जरूर, पर वह छिपा हुआ रहे। शरीर भीतर अ अस्थिपंजर छिपा रह कर शरीरसंगठन में सहायता देता है वैसे। मनोविज्ञान के नियमों को भी कथा-भाग के भीतर अलक्षित रखन चाहिये। जो इस सूची को जानते हैं और जो अपनी रचना में नियम के पचड़े को गुप्त रख कर चरित्र-चित्रण करते हैं उन्हीं के उपन्यास का अधिक आदर होता है।

मानसिक नियमों का पालन दृढ़तापूर्वक करके कोई किसी पुरुष या स्त्री के भावों का ठीक-ठीक विश्लेषण कर भी नहीं सकता बात यह है कि सबके मन एक से नहीं होते। सबकी ज्ञानेन्द्रियों आदिका शक्ति भी एक-सी नहीं होती। किसी अवस्था विशेष में पड़ राम जिस प्रकार का व्यवहार करता है श्याम उस प्रकार का नहीं

करता, यह बात हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं। इस दशा में पद-पद पर मनोविज्ञान की दुहाई देना और राम या श्याम के कार्यों का वैज्ञानिक कारण ढूँढना भ्रम के गर्त में गिरने और घटना-वैचित्र्य में नीरसता लाने का द्वार खोल देना है। हर मनुष्य के संस्कार जुदा जुदा होते हैं। उनके अनुसार ही उसके कार्य-कारण हुआ करते हैं। वे किसी नियमावली के पाबंद नहीं। आपके पास यदि कोई धूर्त आवे और चेष्टा तथा वाणी से अपनी निर्धनता का झूठा भाव प्रकट करके आपसे ५) दान ले जाय तो, बताइए, आप धोखा खा जाएँगे या नहीं? सो संसार में मनोभाव के यथार्थ ज्ञापक कार्य्य सदा होते भी तो नहीं?

इसके सिवा एक बात और भी है। ये जितने अच्छे-अच्छे उपन्यास आजकल विद्यमान हैं उनके कुन्द, इन्दु और मल्लिका, मद-यन्तिका आदि पात्रों के हृदयों में उपन्यास-लेखकों ही को आप बैठा समझिए। इन पात्रों के भाव-विश्लेषण के जो चित्र आप देखते हैं वे उनके निज के मन के प्रतिबिम्ब कदापि नहीं। वे तो उपन्यास-लेखकों ही के मन के प्रतिबिम्ब हैं। मनोभावों और संस्कारों के अनेकत्व में लेखक उनका यथार्थ और संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। वह करता क्या है कि अपने ही मन की नाप से औरों के मन की नाप-तौल करता है। वह देखता है कि अमुक अवस्था या अमुक अवसर यदि आ जाय तो मैं इस प्रकार का व्यवहार करूँगा। बस, वह समझता है कि सारी दुनिया उसी में अनमुक्त है: अवस्था-विशेष में जो वह करेगा या कहेगा वही सब लोग करेंगे या कहेंगे। पर इस प्रकार की धारणा कोरी भ्रान्ति है

अच्छा तो मनोविज्ञान के शुष्क नियमों ही के आधार पर किसी का चरित्र-चित्रण करना जैसे निर्भ्रान्त नहीं हो सकता वैसे ही अपने मन को नाप-दंड समझ कर उसी से औरों के मन को नाप करना भी भ्रान्ति-रहित नहीं हो सकता। इस "उभयतो पाशारज्जु" की दशा में क्या करना चाहिए। क्या उपन्यास लिखना बंद हो।

चाहिए ? नहीं, बन्द कदापि न कर देना चाहिए । उपन्यास तो की एक बड़ी महत्त्व-पूर्ण शाखा है ।

घटना-विस्तार और चरित्र चित्रण करने में मानस-शास्त्र आधार जरूर लेना चाहिए । पर उतना ही जितने से मानवी मन स्वाभाविक गतियों का गर्त मे गिराने से बचाव हो सके। के कुछ स्थूल नियम हैं—भय उपस्थित देख भीत होना, दुःखित होना, आदि । इन नियमों का अतिक्रमण न करना चाहिए। को ऐसी बात न कहना और किसी ऐसी घटना का निर्माण न करना चाहिए जिसमें मनुष्य हो न रहे; वह पशु, देव या दानव आदि हो जाय। बस । फिर, दूसरे के मनोगत भावों की विवृत्ति करते समय अपने ही मन का उसके मन के स्थान पर न बिठा देना चाहिए। अनुकूल अवसर आने पर मैं यह करता, मैं यह कराता, मैं मार बैठता, मैं उत्तेजित हो जाता—इस प्रकार की भावनाओं की प्रेरणा से बहुत करके मन्थ का अपलाप हो जाता है। अतएव जिसके मन के मानसिक भावों का विकास करना है उसके संस्कारों की, उसकी तत्कालीन अवस्था की उसके आसपास की व्यवस्था की—सारांश यह कि उसकी संपूर्ण परिस्थितियों की—आलोचना करना चाहिए। देखना यह चाहिए कि ऐसे समय और ऐसी परिस्थिति में ऐसे मनुष्य के मनोगत भाव किस प्रकार के होंगे। तब तदनुकूल ही उनका विकास करना चाहिए। बात यह है कि दुनिया में दूसरे के मन के भाव जानने का और कोई उपाय है नहीं। परिस्थिति और बहिर्दर्शन ही के द्वारा, अनुमान की सहायता से दूसरे के मन का भाव जाना जा सकता है। मन का भाव-प्रवाह बाहरी लक्षणों या चिन्हों से जाना जा सकता है, यह बात मानस-शास्त्री भी स्वीकार करते हैं। हर्ष, शोक, विराग, अनुराग, क्रोध, भय आदि भावों या विकारों का मानसिक उदय होनेपर शरीर और मुख पर कुछ ऐसे चिह्न प्रकट हो जाते हैं जिनसे उन-उन विकारों का पता लग जाता है। अतएव दूसरे के मनोगत भावों का चित्रण करने में परिस्थिति के साथ-साथ इन चिह्नों के उद्‌गास का भी खूब विचार करके लेखनी

संचालन करना चाहिए। शरीर, भाषा, चित्र, कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परन्तु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उसकी गति अबाध हो जाने से वह कुपथ में चली जा सकती है। कभी-कभी शरीर पर आन्तरिक भावों के कृत्रिम चिह्न भी उदित हो जाते हैं। उस समय देखने वाले की इन्द्रियों को धोखा होता है। अतएव कृत्रिम लक्षणों और इन्द्रिय-प्रवंचना से भी बचना चाहिए। सामाजिक नियमों का, क़ानून का, धर्म का, देश काल और पात्र का भी खयाल रखना चाहिए उनके प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास-लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का बोधक होता है। ऊपर एक लेखक के दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। उनमें से एक की आलोचना में किसी समालोचक ने कोई क़ानूनी भूल बताई। लेखक ने या उनके किसी पक्ष-समर्थक ने युक्तिप्रपंच द्वारा उसके खंडन की चेष्टा कर डाली। पर इस तरह की चेष्टाओं से उपन्यास-लेखक की भूल पर धूल नहीं डाली जा सकती। जब तक पुस्तक विद्यमान है तब तक वह भी ज्यों कीत्यों विद्यमान रहेगी। जिस जुर्म के लिए आजकल के क़ानून में जो सज़ा निर्दिष्ट है, उसके सिवा और कोई सज़ा—चाहे वह उससे थोड़ी हो या बहुत—दिलाने वाला उपन्यासकार स्वयं ही प्रतिकूल आलोचनारूप सज़ा का पात्र समझा जायगा।

सो इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सबका काम नहीं। उपन्यास-कार को कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को आजकल कौड़ियों वैद और कौड़ियों धक धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं कीट-पतंग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर-ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विवृति में संयम शीलता और स्वाभाविकता का कहीं पता, और न उनकी कहानी में चावल भर

संचालन करना चाहिए। शरीर, भाषा, चित्र, कला, कारीगरी आदि पर भावों की अभिव्यक्ति हुए बिना नहीं रहती। इन भावों का विकास कल्पना द्वारा करना चाहिए। परन्तु कल्पना को असंयत न होने देना चाहिए। उसकी गति अबाध हो जाने से वह कुपथ में चली जा सकती है। कभी-कभी शरीर पर आन्तरिक भावों के कृत्रिम चिह्न भी उदित हो जाते हैं। उस समय देखने वाले की इन्द्रियों को धोखा होता है। अतएव कृत्रिम लहरों और इन्द्रिय-प्रवंचना से भी बचना चाहिए। सामाजिक नियमों का, क़ानून का, धर्म का, देश काल और पात्र का भी ख़याल रखना चाहिए उनके प्रतिकूल लिख मारना उपन्यास-लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता का द्योतक होता है। ऊपर एक लेखक के दो उपन्यासों का उल्लेख हुआ है। उनमें से एक की आलोचना में किसी समालोचक ने कोई क़ानूनी भूल बताई। लेखक ने या उनके किसी पक्ष-समर्थक ने युक्तिप्रपंच द्वारा उसके खंडन की चेष्टा कर डाली। पर इस तरह की चेष्टाओं से उपन्यास-लेखक की भूल पर धूल नहीं डाली जा सकती। जब तक पुस्तक विद्यमान है तब तक वह भी ज्यों की त्यों विद्यमान रहेगी। जिस जुर्म के लिए आजकल के क़ानून में जो सज़ा निर्दिष्ट है, उसके सिवा और कोई सज़ा—चाहे वह उससे थोड़ी हो या बहुत—दिलाने वाला उपन्यासकार स्वयं ही प्रतिकूल आलोचनारूप सज़ा का पात्र समझा जायगा।

सो इतनी विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए, अच्छा उपन्यास लिख डालना सबका काम नहीं। उपन्यास-कार को कल्पना के बल पर नई, पर सर्वथा स्वाभाविक सृष्टि की रचना करनी पड़ती है। बड़े परिताप की बात है कि इस इतने कठिन काम को आजकल कोड़ियों वैद्य और कोड़ियों बक धड़ाके के साथ कर रहे हैं। उनकी सृष्टि में कहीं तो मनुष्य देव या दानव बना दिया जाता है और कहीं कीट-पतंग से भी तुच्छ कर दिया जाता है। न उनकी भाषा का कुछ ठौर-ठिकाना, न उनके पात्रों की भाव-विकृति में संयम शीलता और स्वाभाविकता का कहीं पता, और न उनकी कहानी में चावल भर

सदुपदेश देने की सामर्थ्य। अनेक उपन्यासों का उद्देश अच्छा होने पर भी, बीच-बीच, घटना-विस्तार और चरित्र-चित्रण से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी-ऐसी भूलें हो जाती हैं जिनके कारण विवेकशील पाठक के हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती।

उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में, हिन्दी में तो, अभी कूड़े-कचरे ही का ज़माना है। और, आरम्भ में प्रायः सभी भाषाओं के साहित्य में यह बात होती है। अँगरेज़ी भाषा में तो अब तक चरित्र-नाशक उपन्यासों की रचना होती जाती है। पर उपन्यास कोई ऐसी-वैसी चीज़ नहीं। *वह समय गया; जब उपन्यास दो घंटे दिल बहलाव-मात्र* का साधन समझा जाता था। निकम्मे बैठे हुए हैं; लाओ कुछ पढ़ें। वक़ नहीं कटता; लाओ "चपला" या "चंचला" ही को देख जायँ। उपन्यास जातीय जीवन का मुकुर होना चाहिए। उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्यायें, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म-कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जा सकते हैं। उपन्यासों के द्वारा जितनी सरलता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सरलता से और किसी तरह नहीं दी जा सकती। काव्यों और नाटकों की भी पहुँच जहाँ नहीं, वहाँ भी उपन्यास बेधड़क पहुँच सकते हैं। स्त्रियों और बच्चों के भी वे शिक्षक बन सकते हैं। मिहनत-मज़दूरी करने वालों को भी वे घंटे भर सदुपदेश दे सकते हैं। लोगों को कहानी पढ़ने का जितना चाव होता है उतना और किसी विषय की पुस्तकें पढ़ने का नहीं होता। अतएव अच्छे उपन्यासों का लिखा जाना समाज के लिए विशेष कल्याणकारक है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि सच्चा सामाजिक चित्र दिखाने में उपन्यासकार को संकोच न करना चाहिए। इस पर प्रार्थना है कि उपन्यास कोई इतिहास तो है नहीं और न वह कोई वैज्ञानिक रचना ही है जो उसके सभी अंशों या अंगों पर विचार करने की ज़रूरत हो। फिर उसमें चोरों, डाकुओं, व्यभिचारियों, [illegible] आदि के [illegible] दिखाने की क्या ज़रूरत? प्रसंग आदि [illegible] के लि[illegible]

विवृत्ति ऐसे शब्दों से करनी चाहिए जिससे उनका असर पढ़ने वालों पर बुरा न पड़े। दोष समझ कर उनकी विवृत्ति करनी चाहिए। जो उपन्यास-लेखक अश्लील दृश्य दिखा कर पाठकों के पाशविक विकारों की उत्तेजना करता है, अथवा ऐसे चरित्रों के चित्र खींचता है जिनसे दुराचार की वृद्धि हो सकती है, वह समाज का शत्रु है। यदि वह इस तरह के उपन्यास केवल इस इरादे से लिखता और प्रकाशित करता है कि उनकी अधिक बिक्री से वह मालदार हो जाय तो वह गवर्नमेन्ट के न सही, समाज के द्वारा तो अवश्य ही बहुत बड़े दंड का पात्र है।

उपन्यास-रचना अब तो पश्चिमी देशों में कला की सीमा को पहुँच गई है। जो उपन्यासकार ऐसे उपन्यास की सृष्टि करता है जिसके पात्रों के चरित्र चिरकाल तक सदुपदेश और समुदार शिक्षा देने की योग्यता रखते हैं वही श्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। वह चाहे तो राजा से लेकर रंक तक को और मजदूर से लेकर करोड़पति तक को कुछ का कुछ बना दे। वह चाहे तो बड़े-बड़े दुराचारों और कुसंस्कारों की जड़ हिला दे। वह चाहे तो देश में अद्भुत जागृति उत्पन्न करके दुःशासन की भुजाओं को बेकार कर दे। जिस उपन्यासकार की रचना से समाज के किसी अल्प ही समुदाय को कुछ लाभ पहुँच सकता है, और भी कुछ ही समय तक, वह मध्यम श्रेणी का लेखक है। निकृष्ट वह है जो अपनी कुरुचिवर्धक कृतियों से सामाजिक बंधनों को शिथिल कर दुर्वासनाओं को और भी उच्छृंखल कर देता है। दुकानदारी ही की कुत्सित कामना से जो लोग, पाठकों को पशुवत् समझ कर, घास के सदृश अपनी बे सिर-पर की कहानियां उनके सामने फेंकते हैं—

ते के न जानीमहे

साहित्य का मूल

साहित्य का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न-भि
कालों में भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य-जीव
में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही साहित्य में पाते हैं
साहित्य की गति सदैव उन्नति ही के पथ पर नहीं अग्रसर होती
मानव-समाज के साथ-साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है
परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जब कोई जाति अवनत दशा में है
तब उसका साहित्य भी अनुन्नत हो। प्राय: देखा भी जाता है कि जा
के अधःपतित होने पर उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है। औ
जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहि
श्रीहीन हो जाता है। किसी किसी का शायद यह खयाल है कि ज
देश में शांति विराजमान होती है, तभी सत्साहित्य का निर्माण हो
है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखा करते हैं कि युद्ध-काल में
जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लि
लोलुप हो जाती है, तब उसमें देवीशक्ति-संपन्न कवि जन्म-ग्रहण कर
है। अब प्रश्न यह होता है कि साहित्य के उद्भव का कारण क्या है
क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत की भाँति एक आकस्मि
घटना है? क्या देश और समाज के प्रतिकूल साहित्य की सृ
होती है? क्या कवि देश और काल की अपेक्षा नहीं करता? अथ
क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है?

इसमें संदेह नहीं कि साहित्य में वैचित्र्य है। परन्तु वैचित्र्य में
साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतलभूमि प
उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भि
अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रह
है। उदाहरण के लिए हम हिन्दी-साहित्य ही की विचारधारा पर
बार ध्यान देते हैं। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि
हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचि

के अनुसार हिन्दी काव्यों के चार स्थूल विभाग किए जा सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के आदि-काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था। उसके बाद अध्यात्म-वाद की प्रधानता हुई। फिर भक्त-कवि उत्पन्न हुए। तदनन्तर शृंगार-रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुईं। यह सब होने पर भी हिन्दी-साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। बिहारी सूर नहीं हो सकते और न सूर चंद हो सकते हैं। परन्तु जिस भावना के उद्रेक से चन्द कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और बिहारी की रचनाओं में विद्यमान है। वह है हिन्दू-जाति का अधःपतन। महाकवि चंद ने अपनी आँखों से हिन्दू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने अपनी गौरव-रक्षा के लिये अपने काव्य का विशाल मन्दिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। बिहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। वसंतऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्धार की आशा में उसका मन अटका रहा। भूषण के वीररसात्मक काव्यों में भी हम शौर्य के स्थान में—शस्त्रों की व्यर्थ झनकार ही—सुनते हैं। पद्माकर ने निर्बलोन्मुख दर्पहारता की भाँति हिम्मतबहादुर की गुणावली का गान किया है। कहाँ तक कहें, हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पद-दलित हिन्दू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है? यदि हमारी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है; परन्तु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता नहीं अवलंबित है। अपनी हीनावस्था में भी हिन्दू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किए हैं, जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं। सूर, तुलसी और बिहारी ने शक्ति-हीन हिन्दू-जाति में ही जन्म-ग्रहण किया था; परन्तु उनकी रचनाएँ सदैव आदर-णीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव-संपन्न हो जाती

विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धान्त निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि विज्ञान अब पहले से अधिक समुन्नत हो गया है और न्यूटन के आविष्कारों से भी महत्वपूर्ण आविष्कार हो गये हैं। विज्ञान के आदि-काल के लिये न्यूटन का आविष्कार कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो बातें ग्रहण कीं, उनको उसने बिलकुल अपना बना लिया, और अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्व कभी घटने का नहीं। संसार में शेक्सपियर से उत्तम नाटककार भले ही पैदा हों, पर उनकी कृति से शेक्सपियर के नाटकों का महत्व नहीं घटेगा। कहने का मतलब यह कि विज्ञान की जैसे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, ठीक उसी तरह साहित्य की उन्नति नहीं होती। कवि चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसकी रचना पर उसी का पूरा अधिकार रहेगा। जलाशय के समान वह एक स्थान पर ज्यों-का-त्यों बना रहता है। यदि वह क्षुद्र सर है, तो थोड़े ही दिनों में सूख जायगा। यदि उसमें अनन्त जल-राशि है तो चिरकाल तक बना रहेगा। परन्तु विज्ञान स्रोत निर्झर की तरह आगे ही बढ़ता जाता है। स्रोते एक दूसरे से मिल जाते हैं, इसी तरह बड़े झरनों के मिलने से एक नदी बन जाती है और वह नदी ज्यों ज्यों आगे बढ़ती है त्यों त्यों बड़ी ही होती जाती है। विज्ञान का स्रोत वैज्ञानिकों की कृति से बढ़ता ही जाता है, और अब उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया है।

विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है। प्रकृति की रहस्यमयी सृष्टि [illegible] नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो, तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह-मात्र है। परन्तु उसमें कोई नियम

नहीं ढूँढ़ निकालती। कला जीवन की प्रकाशिका कही गई है। अतएव जीवन-वैचित्र्य के कारण, कला का वैचित्र्य सदैव रहेगा। वैचित्र्य के अभाव से कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी; और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी। सभ्यता के आदि-काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है। अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है। तब न तो शब्दों का आडम्बर रहता है, और न अलंकारों का चमत्कार। उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है। उसमें रूप रहेगा, किन्तु रूप-वैचित्र्य नहीं। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता जाता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। जीवन की विशालता पर कला का सौंदर्य अवलंबित है। जिस जाति का जीवन जितना ही विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक उन्नत होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा। एक उदाहरण से हम इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्राचीन काल की असभ्य-जातियों की बनाई हुई चित्रावली मिली है। उसमें और सभ्य ग्रीक-जाति की शिल्प-कला में क्या भेद है ? ग्रीक-जाति के समान उन असभ्य-जातियों को भी जीवन के विषय में विस्मय होता था। रूप के पर्यवेक्षण से उन्हें भी आनन्द होता था, और उन भावों को बाह्यरूप देने के लिये वे भी चंचल थीं। उनके चित्रों से ये बातें हैं। परन्तु जीवन की क्षुद्रता से उन्होंने सिर्फ रूप देखा, रूप-वैचित्र्य नहीं। रूप-वैचित्र्य भी यदि उन्होंने देखा, तो उसमें सुषमा और सुसंगति (Harmony) नहीं देख सकीं। उसको ग्रीक लोगों ने देखा। ग्रीक लोगों की कला में अधिक सौंदर्य है, क्योंकि उनके जीवन का क्षेत्र भी अधिक विशाल था। यदि ग्रीक-जाति का जीवन और भी विशाल होता, तो उसकी कला की भी अधिक उन्नति होती, परन्तु ग्रीक-जाति सिर्फ रूप-रस-गंध-मय जीवन में ही मुग्ध थी आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका लक्ष्य नहीं

इस ओर हिंदू और चीनी-जाति का ध्यान था। इसलिये इन लो
कला का आदर्श अधिक ऊँचा था।

साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एकमात्र
यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को ...
है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परन्तु वह संपूर्णता है कहा
बाह्य प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य-जगत् में ही मनुष्य संपूर्णता
पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह
कवि के कल्प-लोक में और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन
पूर्णरूप प्रकाशित होता है। वहीं यथार्थ में सौंदर्य देखते हैं। उसी के प्रकार
में जब हम संसार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। यह वही प्रकार
है, जिसके विषय में किसी कवि ने कहा है—

"The light which never was on land or sea,
The consecration and the poet's dream."

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल में कहीं नहीं है, वह पवि
होकर केवल कवि के स्वप्न में है।

कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। मानव-जीव
से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन ना
के एक विद्वान् का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि
चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। शिक्षा और सभ्यता
साथ सौंदर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। अँगरेज़ी में जि
Art Impusle कहते हैं, वह मनुष्य-मात्र में है। असभ्य जातियों
भी यह कला-प्रवृत्ति विद्यमान है। कविता, संगीत और चित्र-कला
...ने कंदराओं में रहने वाली जातियों में भी पाए जाते हैं। अपन
... को व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला
मूल है।

कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है
जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपन
हृदूगत भावों के दबाने की ज़रूरत नहीं रहती, तभी वह इसे सौंदर्य

सृष्टि के लिये चेष्टा करता है। उल्लास के इस भाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता रहती है। जब यह स्वच्छंदता संयत हो जाती है, जब उस भाव में सामंजस्य प्रबल हो जाता है, तब कला की सृष्टि होती है। सौंदर्य की अनुभूति के लिये सभी स्वच्छन्द हैं। पर कला-कोविद का कार्य शृंखला-बद्ध और प्रणाली-संगत होना चाहिए। मतलब यह कि सौंदर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है, जब चित्त-वृत्ति स्वच्छन्द रहती है। परन्तु चित्त-वृत्ति को सर्वथा निरंकुश न रख कर संयत रखना चाहिए। तभी सौंदर्य का निर्मलतर रूप प्रकट होता है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि जब देश में सर्वत्र शांति रहती है, तभी कला की उन्नति होती है। पर ब्राउन साहब की यह राय नहीं है। आपका कथन है कि जब समाज में शांति है, तब कला की उन्नति होगी ही नहीं। इसके विपरीत, जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशांति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति को जाग्रत् करता है। शांति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है; परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता। विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिये उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अंत विप्लव-काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गाथिक कला का विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्ध-काल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में रेनेसांस पीरियड—पुनरुत्थान-काल—भी न आता। युद्ध की इच्छा से चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृङ्खला से बँधी होती है, उसकी चित्त वृत्ति का स्वातंत्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव का प्रतिष्ठान कर उसे किस प्रकार अधिक

करें। यही नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनन्त और अज्ञेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

ब्राउन साहब ने यहीं कला के साथ धर्म का भी सम्बन्ध बतलाया है। आपका कथन है कि प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है, उसे धर्म ही विश्वास और कल्पना के द्वारा मनुष्य के लिये अनुभव गम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है; परन्तु उसका यह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परन्तु धर्म उसको बतलाता है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब यह सौंदर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने पर भी भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा की। परन्तु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर ये अपनी कला भी खो बैठे।

मनुष्य ने संसार से अपना जो संबंध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार से उसका संबंध भी बदलता जाता है। धार्मिक विश्वास में शिथिलता आने से उसका सामाजिक जीवन भी शिथिल हो जाता है; और उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्यों में दिखलाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्बन्ध है। डाक्टर बाथर नाम के एक विद्वान् ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई धर्मावलम्बी योरप के सभी सभ्य-देशों की भाषा का धर्म ईसाई मत का ही अवलम्बन करता है। वहाँ ईसाई-धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता का महत्त्व

पर साहित्य में विद्यमान है। वीचर साहब के इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना-शैली, अलङ्कार के समावेश और रस के विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि प्रतिध्वनित होगी। साहित्य से धर्म पृथक नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अङ्कित होगा।

हिन्दू साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दू-साहित्य के आदि काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था विद्यमान था, मध्य-युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रान्ति हुई, तब साहित्य में नवोत्थान-काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम बाह्य जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी भावना का केन्द्र-स्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्यस्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है, परन्तु उसमें हिन्दू-जाति की तन्मयता नहीं है। प्रकृति मानव के लिये आत्मीय था, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता और नदी-पहाड़ सभी से उसकी घनिष्ठता थी। हिन्दू साधक विश्व-देवता के साथ एक होकर रहना चाहते थे। विश्व के सभी पदार्थों में भगवान् की विभूति का दर्शन कर हिन्दू-जाति ने गंगा और हिमालय की पूजा की, और मनुष्य को देवता के रूप में तथा देवता को मनुष्य के रूप में देखा। ग्रीक-साहित्य में [illegible], [illegible], [illegible] आदि की रचनाओं में भावुकता है पर वह इस कोटि की नहीं जैसी हिन्दू[illegible]

देव-पर्यन्त थी। वे एक अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे। परन्तु उनका लक्ष्य एक-मात्र इहलोक था। हिन्दुओं की दृष्टि में उनकी उपासना सात्विक नहीं, राजसिक थी। हिन्दुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं—जिससे केवल प्राण-रक्षा हो, वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौन्दर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब वह राजसिक होती है। सात्विक कला में अनन्त के लिये सान्त की व्याकुलता रहती है तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है, उसका रस रूप में परिणति करना चाहता है। प्रकृति के सात्विक उपासकों के लिये प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का सम्बन्ध केवल ज्ञान द्वारा स्थापित नहीं होता। यथार्थ सम्बन्ध सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक-साहित्य में जिन देवताओं की सृष्टि की गई है, वे मानव-जाति से सर्वथा पृथक् थे। परन्तु हिन्दू-देवता मानव-जाति से घनिष्ट सम्बन्ध रखते थे। वैदिक ऋषियों ने विश्व के प्रति ऐसी प्रीति प्रकट की है, उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिये अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को सम्बोधन कर उन्होंने कहा है—"हे पृथ्वी, तेरे पहाड़, तेरे तुषारावृत पर्वत, तेरे अरण्य हमारे लिये सुखकर हों।" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है—"भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" फिर लिखा है—"हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसंत, तेरा सुविन्यस्त ऋतु-सम्वत्सर, तेरे दिन और रात्रि तेरे वक्षःस्थल की दुग्ध-धारा के समान क्षरित हों।" इन उद्गारों से विश्व-प्रकृति के साथ उनका सादृश्य प्रकट होता है।

सभ्यता के विकास से प्रकृति के साथ यह घनिष्टता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से, मन से, कल्पना से और भक्ति से बाह्य प्रकृति का संसर्ग प्राप्त कर लेता है, तब वह उससे परिचय की अन्तिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एक-मात्र प्रकृति ही उसका

आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शांति-पुञ्ज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य-शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत् में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अन्तर्जगत् हो जाता है। वह प्रकृति के स्थान में मनुष्य समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होनेपर कवियों ने मानव-जीवन में सौन्दर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौन्दर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि बाह्य-जगत् में सौन्दर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहाँ जीवन का प्रकाश पूर्ण मात्रा में विद्यमान है, वहीं यथार्थ सौन्दर्य है। अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है, और निर्मलता ही सौन्दर्य है। पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणी-मूर्ति में मातृमूर्ति अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय है। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिये आदर्श चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति का अन्त में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, तो मनुष्य के लिये। बुद्ध ने तो उसे मायाविन समझ कर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों-ज्यों चरित्र का महत्ता देखी, त्यों-त्यों उन्होंने अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। तब वे ही उनकी उपासना के केन्द्र हो गए। आज कल हम लोगों के लिये ये चरित्र अतीत काल के हो गये हैं परन्तु मध्य-युग के कवि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। उन कवियों और साधकों के विषय में जो दन्तकथाएँ प्रचलित हैं, उन

बात कही जाती है कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया। यह मिथ्या नहीं है। यदि तुलसीदास और सूरदासजी अपने अन्तःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, तो उनकी रचनाओं में वह शक्ति भी न रहती, जो कि है। दांते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है, मानो उसने सचमुच वहाँ की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात नहीं छूटने पाई। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परन्तु प्रत्यक्ष अनुभव का यह अवश्य परिणाम है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत में लीन हो गये। संसार से प्रथक् होकर उन्होंने भाव जगत में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया। जो सौन्दर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों से उद्गत हुई थी, वह मानव-समाज में फैलकर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीराबाई आदि वैष्णव कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की है। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है। आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसे कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किए हैं, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता। नीच और उच्च का भेद उसके लिये नहीं है। इसीलिये सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयम् अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें, तो कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अन्तर्जगत् के संगीत को सुन लें। वह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषादपूर्ण, परन्तु सर्वदा नवीन ही, बना रहता है। वह हमारे चारों ओर व्याप्त है। हमारे भीतर भी है। परन्तु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और हमारे चैतन्य के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस

परदे के भीतर से भी अन्तर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परन्तु सर्व-साधारण के लिये वह परदा रुकावट है।

आधुनिक साहित्य में जिस अध्यात्म-वाद की धारा बह रही है, उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्लेषण कर उसमें आत्मा का सौंदर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिन्दु-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है। जड़-वाद के स्थान में आत्म-चिन्ता और आत्मपरीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अन्तःसौंदर्य का दर्शन कर सकें, तो यह उसके लिये श्रेयस्कर ही है, क्योंकि तभी वह पुनः शान्ति के पथ पर अग्रसर होगा।

शैली का विवेचन

रचना-चमत्कार का दूसरा नाम शैली है। किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। हम पहले लिख चुके हैं कि किसी किसी के मत में शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका बाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा। अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

काव्य के अन्तरात्मा का हम विशेषरूप से विवेचन कर चुके हैं। अब उसके बाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है; क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है, यह उसका अङ्ग है। उसी में उसके जीवन और वक्तव्य

साफल्य है। वह अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, *विचारों* और *कल्पनाओं* को स्वयम् जानना चाहता है। सारांश यह है कि मनुष्य-समाज में भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय नित्य-प्रति होता रहता है। भावों, विचारों और कल्पनाओं का यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जिस *जाति का यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा,* वह जाति उतनी ही उन्नति मानी जायगी। इसके अतिरिक्त हमें आपस *के नित्य के व्यवहार में कभी* दूसरों को समझना, कभी उन्हें अपने पक्ष में करना और कभी प्रसन्न करना पड़ता है। यदि ये शक्तियाँ आदि अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान न हों तो मनुष्यों के सब काम रुक जायँ। साहित्य-शास्त्र का काम इन्हीं शक्तियों को परिमार्जित और उत्तेजित करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाना है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हम में नैसर्गिक अवस्था में वर्तमान रहती हैं, और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। अब यदि हम शक्ति को बढ़ा कर, संस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, *विचारों* और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान-भांडार की वृद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।

हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्रायः दूसरों को समझना, किसी कार्य में प्रवृत्त कराना अथवा प्रसन्न करना पड़ता है। ये तीनों काम मनुष्य की भिन्न-भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। समझना या समझाना बुद्धि का काम है, प्रवृत्त होना या करना संकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परन्तु प्रवृत्त करने या होने में बुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं *के प्रभाव से हम संकल्पशक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं।* बुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन

करते हैं, और भावों की सहायता से काव्यों की रचना कर मनुष्य का समस्त संसार से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसलिए शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे हुए दोनों कामों को पूरा करने के लिये हम अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकें। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हें उपयुक्त रीति से प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्व समझना चाहिये। प्रायः देखने में आता है कि जिन लेखकों की लेखन-शैली प्रौढ़ नहीं है, जो अभी अपने साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं, उनकी कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों तथा विचारों आदि की न्यूनता रहती है। ज्यों-ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है और उनमें लेखन शक्ति की वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों उनमें शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों आदि में समानता आजाती है और प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट देख पड़ती है। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि मानो शब्दों और भावों में होड़ मची हुई है। दोनों कवि या लेखक की कृति में अग्रसर होकर प्रधान स्थान ग्रहण करने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। पर इस दौड़ में शब्द पीछे पड़ जाते हैं और भाव आगे निकल जाते हैं। एक ही भाव के लिये अनेक शब्द मिलने लगते हैं और लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी बड़ी गंभीर और भाव पूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। अतएव प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः शब्दाडंबर ही अधिक देख पड़ता है। उस समय लेखक को अपने भावों को स्पष्ट

इसलिए केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाए गए हैं और उनको वाक्य-रूपी माला में चुनकर गूंथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोये नहीं जाते, तब तक तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अन्तर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारुरूप से उनके सजाये जाने पर ही होता है। अतएव हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्व का है। रचना शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस सम्बन्ध में सबसे पहिली बात जिस पर हमें विचार करना चाहिये, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यक्ष करने वाले शब्दों का हम उपयोग करना चाहिए। विना सोचे समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की [illegible] को नष्ट करता और लेखक के शब्द भंडार की अपूर्णता [illegible] उसकी असावधानी प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिये शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिये।

इसके अनन्तर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेकप्रकार

बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिये सबसे अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अन्त यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से।"

इस वाक्य का प्रधान अंग "वह. केवल स्वराज्य से (हो सकता है)" है, जो सबके अन्त में आता है। इस अन्तिम अंश में कर्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अन्तिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव को पुष्टि मात्र करते हैं और पढ़ने वाले या सुनने वाले में उत्कण्ठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अन्त तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिये उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिये हमारी उत्सुकता को विशेष जाग्रत कर देता है। अन्तिम वाक्यांश के पढ़ते ही हमारा सन्तोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़ने वाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है, वह शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव

को यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न-भिन्न स्थान दे दें, जैसे 'तुम्हारा कहना अविश्वसनीय है पर असत्य नहीं, और उसका कहना असत्य है पर अविश्वसनीय नहीं' तो वाक्यांश की सुन्दरता, आनन्ददायिता और विस्मयकारिता भी बढ़ जाती है।

वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का संस्थान है; अर्थात् इस बात का ध्यान रखना कि वाक्य की किस बात पर हम अधिक ज़ोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर ज़ोर देना हो, वह वाक्य के आदि अथवा अन्त में रखा जाय। आदि में रहने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करता है और अन्त में रहने से वह अधिक काल तक ठहर सकता है। मध्य का स्थान साधारण और अनवधान बातों के लिए छोड़ देना चाहिए। इस नियम का उल्लंघन प्रस्तावना या उपसंहार रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं होना चाहिए। अवधारण को आदि या अन्त में स्थान देने से वाक्य में दृढ़ता आ जाती है और वह शक्ति-गुण से सम्पन्न हो जाता है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं किन्तु उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्त्व व्यवहार में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतन्त्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बनते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ हो सकता है; परन्तु वाक्यों में [illegible] होने पर उनका अर्थ [illegible] [illegible]

ही कहे गए हैं, यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीन गुणों को उत्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गये हैं; जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुसार ही मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना को भी तीन रीतियाँ, वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभाषा के कवियों ने एक एक ढंग का विशेषरूप से अनुकरण किया है; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिये गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनुसार रचनाशैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भंडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिए गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन हो नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है। इसी कारण हमने अङ्गरेजी सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे साहित्यकारों ने भी यह बताया है कि माधुर्य गुण शृङ्गार, करुण और शान्त रस का, ओज गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस का, और प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करते हैं। पर 'विशेष 'विशेष

अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने
विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द
वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है;
जिससे साधारण अर्थ को छोड़ कर किसी विशेष अर्थ का बो
है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि 'तुम्हारे
शठता झलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे कि 'मु
ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव
कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण-रूपी मुँह में प्रति
कर शठता की झलक देख ली इससे वास्तव में तुमने
प्रतिच्छाया देखी है; अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं।
अनेक भेद और उपभेद माने गए हैं।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोच्च
वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधिक
इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य
प्रकार का अलंकार माना है; और हमारे यहाँ तो इसके अ
तथा उपभेद करके इस अलंकार का बड़ा विस्तार किया
सारांश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवर
पहले उनको वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करने वाला माना
अलंकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष ब
कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण भी माने ग
उन्हें "प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म" कहा है।
में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त स
सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रसों न
हो आता है। पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और उ
वाक्यों से संबंध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तार-प्रियता अ
विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं, पर मुख्य गु

ी कहे गए हैं, यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीन गुणों को
त्पन्न करने के लिये शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गये
जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ गुणों के अनुसार ही मधुरा,
षा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-
ना की भी तीन रीतियाँ, वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली मानी गई
इन रीतियों के नाम देशभाषा के कवियों ने एक एक ढंग का
त्व से अनुकरण किया है; अतएव उन्हीं के आधार पर ये
भी रख दिये गये हैं। माधुर्य गुण के लिए मधुरा वृत्ति और
रीति, ओज गुण के लिए परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति
प्रसाद गुण के लिए प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक
ई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति
और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के
कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया
तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनु-
शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी
हमारा साहित्य-भंडार पद्य में है। गद्य का तो अभी
काल ही समझना चाहिए। इसलिए गद्य की शैली के
अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई
होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक
गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य शैली का बहुत अधिक
है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है। इसी
अँगरेजी सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के
किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का
। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर
। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने भी
माधुर्य गुण शृङ्गार, करुण और शांत रस को,
वीभत्स और रौद्र रस को, और प्रसाद गुण सब
कार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष

कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करता है अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुन्दर और मनोहर बना सकते हैं; परन्तु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिन्दी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यन्त हेय तथा तुच्छ और इसलिये सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अन्दर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार सहायता नहीं देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसीलिये अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं-कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनका उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं। अर्थात्—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन में भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों को बहुत कुछ तोड़ने-मरोड़ने की भी आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहा एक शब्द अनेक अर्थ दे, व-

को अनेक उपभागों में बाँटकर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता जिसमें पदों की एक पूर्ण शृंखला सी बन जाय। इस शृंखला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी शृंखला अव्यवस्थित और असम्बद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन किया जाय और उसपद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय, तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धान्त को सामने रखकर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में दो बात विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से सम्बन्ध तथा संक्रमण, और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विराम या परिवर्तन। वाक्यों के संबंध और संक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से सघटित करना चाहिये कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले आ रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँचकर दम साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिये। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ विचार करना चाहते हैं। हम वाक्यों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए तीन गुणों, माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख कर चुके हैं; तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के सम्बन्ध में भी उनकी मुख्य-मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक बुद्ध्यात्मक और दूसरा रागात्मक। बुद्ध्यात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति, करुण और हास्य को

पुरानी हिन्दी

हिन्दुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परन्तु, जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मंजी, छटी, सुधरी भाषा है। कितने हजार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरोरे के बांध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े-मेढ़े किनारों वाली, छोटी-बड़ी, पथरीली, रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिए कैसा कुछ आन्दोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। मानो इस संस्कृत नहर को देखते-देखते हम असंस्कृत या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वच्छन्द होकर समतल और सम से नये हुए किनारों को छोड़कर जल स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली, कहीं रेतीली भूमि पर, और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति—यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूट कर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका आगे भी काम पड़े। वेद या छन्दस् की भाषा का जितना सादृश्य उसकी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में आना हुआ [illegible] का किया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग क्रम यह है—

१—मूलभाषा, २—छन्दस् की भाषा, ३—प्राकृत, ४—संस्कृत, ५—अपभ्रंश।

संस्कृत अजर—अमर तो हो गई किन्तु उसका वंश नहीं चला, वह ऊसरी पेड़ था। हाँ, उसकी संपत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिन्दी आदि भाषायें पुष्ट होती गईं और उसने भी समय-समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बंध गया। अस्तु, अकृत्रिम भाषा प्रवाह में (१) छंदस् की भाषा (२) अशोक की धर्म लिपियों की भाषा (३) बौद्ध ग्रन्थों की पाली (४) जैन सूत्रों की मागधी (५) ललित विस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत—ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्द्धमागधी कही गई है। उसे आर्ष प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की बाँट की, किन्तु मागधी वाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है, जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। पुराने काल की प्राकृत देशभेद नियत हो जाने पर या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी, पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गईं जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उन पर कितना ध्यान दिया गया है; इससे स्पष्ट है। मागधी अर्ध-मागधी तो आर्षप्राकृत रह कर जैन सूत्रों में ही बन्द हो गई, वह भी एक तरह की छन्दस् की भाषा बन गई, प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरा विवेचन कर उसी को आधार मान कर शौरसेनी आदि के अन्तर को उसी के अपवादों की तरह लिखा है। यों कहो कि देशभेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत—एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह रत्न प्राकृत और सूक्तिरत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उसका आदर किया। प्राकृत कविता का प्रचलन ऐसा हुआ, यह कहा गया कि

अपभ्रंश] बांध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं। उनमें देशी की धाराएँ भी आकर मिलती गईं। देशी और कुछ नहीं, बांध से बचा हुआ पानी है, या वह जो नदी मार्ग पर चला आया, बांधा न गया। उसे भी कभी कभी छान कर नहर में ले लिया जाता था, बांध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था। पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा। अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही। राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा। विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई।

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिन्दी से। शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिन्दी की भूमि है। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिन्दी कहां आरम्भ होती है इसका निर्णय करना कठिन किन्तु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिन्दी भी। संस्कृत ग्रन्थों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी की लेखशैली की रक्षा हो गई या सुखसुखार्थ लेखन शैली में बदलती बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उन्हीं प्राचीन लेखकों की हिन्दी को उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी, तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिन्दी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिए यह नहीं कह सकते कि पुरानी

कविता महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी। मीराबाई के पद पुरानी हिन्दी कहे जायं या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिन्दी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी। जैसे अपभ्रंश में कहीं कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरबी भाषा में लिखते लिखते संस्कृत में चले जाते हैं। यदि छापाखाना, प्रान्तीय अभिमान, मुसलमानों का फ़ारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रान्तिक उद्बोधन न होता तो हिन्दी अनायास ही देश भाषा बनी जारही थी। अधिक छपने छापने, लिखने और झगड़ने भी इस गति को रोका।

आजकल लोग पृथ्वीराज रासो को भाषा को हिन्दी का प्राचीनतम रूप मानते हैं। (उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के पीछे करेंगे) किन्तु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिन्दी नहीं कहा जाय तो रासो की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी—गुजराती—मारवाड़ी—चारणी—भाटी' कहना चाहिये। हिन्दी नहीं, ब्रजभाषा भी हिन्दी नहीं और तुलसीदास जी की मधुर उक्तियां भी हिन्दी नहीं।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है। कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथा प्रसंग में उद्धृत। मालूम होता कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था। उसमें महाभारत और रामायण की पूरी या उनके आधार पर बनी हुई छोटी छोटी कथाएं थीं। मुंज और भुजनाम के कवियों का पता चलता है। जैन भण्डार के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (मानगढ़न की समरारास या जैन प्रबन्धों में) ये बने पुरानी हिन्दी के नमूने भी वाना शृंगार की वीरता के अथवा कहानियों के चुटकुले या जैन धार्मिक रचनायें।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए :

पुत्ते जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

[उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धरती पर दूसरा अधिकार करले।]

इस दोहे का परिवर्तन होते होते यह रूप रह गया :

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण।
जो ऊभाँ घर आपणो गंजीजै अवरेण॥

[धियेण—धी से, पुत्री से, ऊभाँ—खड़े खड़े; गंजीजै—गंजन की जाय, जीती जाय]

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुये पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किन्तु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (—पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी) से क्या अवगुण' कहा गया है। अस्तु, ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छन्द आदि से ग्रन्थों में बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तविक रूप दिखाता है।

कुछ उदाहरण:—

(१)

मालवा के राजा (परमार) मुँज का राजकार्य तो रुद्रादित्य नामक मन्त्री देखता था और मुँज किसी स्त्री पर आसक्त था। रात ही रात में चिरक्लिज नाम के ऊँट पर चढ़ कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता। कुछ दिन पीछे मुँज ने आना जाना छोड़ दिया तो उस खण्डिता ने मुँज को यह दोहा लिख भेजा:

मुँज पडल्ला दोरडो पेक्खेसि न गम्मारि।
आसाढ़ि घण गज्जीइं चिक्खलि होसेऽवारि॥

पडल्ला—स्खलित; दोरडो—डोरी; पेक्खसि—देखता

गम्मारि—गंवार; आसाढ़ि—असाढ़; गज्जीइँ—गरजता है; चि
कीचड़ली; हासे—हो जायगी; अवारि—अब;

[मुँज (प्रेम की) डोरी ढीली हो गई है, गवांर ! तु
नहीं कि आषाढ़ में घन (मेघ) गरजने पर अब (भूमि) चि
हो जायगी ।]

(२)

तैलिंग देश के राजा तैलप (कल्याण के सोलंकी तैलप
की छेड़ छाड़ पर मुँज ने उस पर चढ़ाई की । मन्त्री रुद्रादित्य ने
को रोका और समझाया कि गोदावरी के उस पार न जाना
मुँज तैलप को पहले छै बार हरा चुका था, इसलिए उसने मन्त्री
सलाह की उपेक्षा की। रुद्रादित्य ने राजा का भावी अनिष्ट
और अपने को असमर्थ जान चिन्ता में जल कर प्राण दे
गोदावरी के पास मुँज की सेना छलबल से काटी गई और तैलप
को मूँज की रस्सियों से बन्दी करके ले गया। वहाँ उसे लक
पिंजड़े में क़ैद रखा । तैलप की बहन मृणालवती से मुँज का प्रे
गया । एक दिन मुँज काँच में मुँह देख रहा था कि मृणालवती
से आ खड़ी हुई और मुँज के यौवन और अपनी अधेड़ अ
विचार से उसके चेहरे पर म्लानता आ गई। यह देख मुँज ने
दोहा कहा:

मुँज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयु न झूरि।
जय सक्कर सय खण्ड थिय तो इस मीठी चूरि ॥

भणइ—कहता है; जुव्वण—यौवन; गयु—गयो; झूरि
पछता; जइ—जो; सय—शत; थिय—थी; इस—यह; चूरि—
की हुई।

[मुँज कहता है, हे मृणालवति ! गए हुए यौवन को (
सोच मत कर, यदि शक्कर के सौ टुकड़े हो जायँ तो वह चूरी भी
होती है ।]

उत्तर पंचाल और दक्षिण का भाग दक्षिण पंचाल कहलाता था। उत्तर पंचाल के बहुत से भागों में कुछ काल से ब्रज की बोली का प्रभाव हो गया है। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्र, जो बहुत काल तक प्रसिद्ध रही थी, बरेली जिले में पड़ती है। यहाँ आजकल ब्रज का एक रूप बोला जाता है।

गंगा के पार पूर्व में बदायूँ और बरेली के जिलों में ब्रजभाषा के घुस पड़ने के कुछ विशेष कारण हैं। अहिच्छत्र के नष्ट हो जाने पर इस प्रदेश की कोई प्रसिद्ध राजधानी नहीं रही, जो यहाँ का केन्द्र हो सकती। ऐसे केन्द्रों से बोली तथा अन्य प्रादेशिक विशेषताओं के सुरक्षित रहने में विशेष सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त ब्रज का वैष्णव साहित्य, जो प्रायः गीतों के रूप में था धीरे-धीरे इस ओर फैला और जनता भी तीर्थाटन के लिये ब्रज में बहुत आती जाती रही। इन बातों का प्रभाव बोली पर बहुत पड़ा।

मध्य काल में साहित्य की उन्नति के कारण ब्रज की बोली ब्रजभाषा नाम से प्रसिद्ध हो गई। इसका शुद्ध रूप अलीगढ़, मथुरा और आगरे के जिलों तथा धौलपुर रियासत में मिलता है। यह भूमिभाग प्राचीन काल में शूरसेन जनपद था। ब्रज का मिश्रित रूप उत्तर में बुलन्दशहर, बदायूँ और बरेली, पूर्व में एटा और मैनपुरी के जिलों में, और पश्चिम तथा दक्षिण में पंजाब के गुड़गाँव जिले, भरतपुर, करौली जयपुर रियासत के पूर्वी भाग, करौली और ग्वालियर के कुछ भाग में बोला जाता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है ब्रज की बोली के इस विस्तार का एक विशेष कारण कृष्णभक्ति और वैष्णव साहित्य रहा है। सैकड़ों वर्षों से भारत भर के लोग कृष्णलीला की इस भूमि के दर्शनों को आते रहे हैं। सैकड़ों कवियों ने कृष्णलीला को यहीं की बोली में गाया है। अतः ब्रज की बोली का दूर तक प्रचार फैलना स्वाभाविक है। खड़ी बोली के साहित्य में प्रधान होने के पूर्व कई सौ वर्ष तक साहित्य की भाषा ब्रज की ही बोली रही है।

प्राकृत काल में भी यहाँ की बोली 'शौरसेनी' बहुत उन्नत अवस्था में थी। प्राकृत गद्य में इसका विशेष प्रयोग होता था। सम्भव है, ब्रजभाषा के विकास में इस बात का भी कुछ प्रभाव रहा हो।

मध्यदेश के समस्त प्राचीन जनपदों में कोसल अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखने में सब से अधिक सफल रहा। मुसलमानों के शासन काल में जब पुराने स्वाभाविक विभाग एक प्रकार से पूर्णरूप से नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे तब भी अवध के नवाबों के शासन ने अपने अस्तित्व को एक बार फिर प्रकट किया था। वर्तमान समय में भी अवध के जिले अलग ही से हैं। तालुकेदारी प्रथा के कारण अवध आगरा प्रदेश के साथ मेल नहीं खाता।

आजकल अवधी बोली हरदोई जिले को छोड़कर लखनऊ की कमिश्नरी तथा फैजाबाद की संपूर्ण कमिश्नरी में बोली जाती है। प्राचीनकाल में यह ही कोसल जनपद कहलाता था, किंतु आजकल का अवध प्राचीन कोसल से पूर्णतया नहीं मिलता है। दोनों का क्षेत्र प्रायः बराबर होते हुए अवध कुछ पश्चिम और दक्षिण की ओर हट आया है और उसने प्राचीन पंचाल और वत्स के जनपदों की कुछ भूमि पर अधिकार कर लिया है। इलाहाबाद और फतेपुर के जिलों में, जो गंगा के दक्षिण में हैं, आजकल अवधी का ही एक रूप बोला जाता है। पूर्व की एक ओर से इसने अपना आधिपत्य बहुत कुछ हटा लिया है। एक समय कोसल की पूर्वी सीमा विदेह जनपद से मिली हुई थी। अब तो इन दोनों के बीच में काशी की बोली भोजपुरी का विस्तीर्ण प्रदेश आगया है कोसल सरयू के किनारे बसा था। अवध को गोमती के किनारे बसा कहना चाहिए। कोसल की प्राचीन राजधानी अयोध्या आजकल अवध की पूर्वी सीमा के निकट पड़ती है।

अवधी प्रदेश के पश्चिम की ओर हट आने के कई कारण थे मुख्य कारण अयोध्या के बाद अवध की राजधानी का श्रावस्ती हो जाना था जो कोसल के पश्चिमोत्तर कोने में थी। संपूर्ण

बौद्धकाल में श्रावस्ती कोसल की राजधानी रही अतः इसका यहाँ की जनता पर अधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। [illegible] काल में अवध की राजधानी लखनऊ रही। यह भी अवध के पश्चिमी भाग में पड़ती है। प्राचीन काल में पचाल और कोसल के बीच में नैमिषारण्य का विस्तृत वन था। दक्षिण में गंगा तक कोसल की सीमा थी। उसके बाद प्रयाग वन था। बाद को जब ये वन कटे तो कोसल वासियों ने इन पर धीरे धीरे अधिकार कर लिया होगा।

वैष्णवकाल में जिस समय ब्रज से कृष्ण-भक्ति का प्रचार हुआ, उसी समय विष्णु के दूसरे मुख्य अवतार राम की भक्ति का केन्द्र अवध हो गया। यही कारण है कि हिन्दी प्रदेश की मध्यकालीन बोलियों में ब्रज के बाद अवधी का स्थान है। हिन्दी की और कोई भी बोली साहित्य की दृष्टि से इन तक नहीं पहुँच सकी। प्राकृतकाल में अवधी अर्द्धमागधी के नाम से अलग रह चुकी है। शौरसेनी मागधी तथा महाराष्ट्री के बीच में होने के कारण प्राकृत साहित्य में अर्द्धमागधी का स्थान ऊँचा नहीं हो सका।

काशी अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दू धर्म का केन्द्र रही है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि काशी प्रदेश की बोली भोजपुरी का आधिपत्य चारों ओर दूर तक हो। भोजपुरी बोली गाजीपुर और बनारस की समूची तहसीलों और बिहार के [illegible] और [illegible] के जिलों में बोली जाती है। बिहार में [illegible] के [illegible] और [illegible] के जिलों में भी [illegible] कुछ भाग में [illegible] पहुँच [illegible]

भोजपुरी [illegible]

[illegible]

किन्तु पश्चिमी जनपदों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण वह सम
पूर्ण नहीं हो सकी।

भाषा सर्वे के अनुसार प्राचीन अंग-देश में बोली जाने
वाली पृथक् नहीं है। संभव है कि विशेष अध्ययन करने से य
बोली निकटवर्ती बोलियों से पृथक् हो सके। अंग देश बहुत
काल तक बौद्ध-काल के चंपा और मुसलमान काल के भागल
केन्द्रों में पृथक् रहा है अतः इसका व्यक्तित्व इतने शीघ्र पूर्णत
नष्ट नहीं हो सकता।

यह प्रदेश प्राचीन दक्षिण कोसल का द्योतक है। हिन्दू काल में
हैहयवंश की एक शाखा राज करती थी। इनकी राजधानी रत
थी। यहाँ के जंगल के निवासी गोंड़ कहलाते हैं जिनके नाम से
प्रदेश मुसलमान काल में गोंड़वाना कहलाता था।

बघेली बोली यमुना के दक्षिण में इलाहाबाद और बाँद
जिलों, रीवाँ रियासत तथा मध्यप्रान्त के दमोह, जबलपुर, मंडला
बालाघाट के जिलों में बोली जाती है। इस बोली का केन्द्र बघेलख
में बघेल राजपूतों का प्रदेश है, जिनके नाम से इसका नाम पड़ा
आज कल जहाँ बघेली और अवधी मिलती है वहाँ प्राचीन काल
वत्स राज्य था, जिसकी राजधानी प्रसिद्ध कौशाम्बी नगरी थ
चन्द्रवंशियों की प्राचीन राजधानी प्रतिष्ठानपुर भी वर्तमान प्रयाग
निकट गंगा के दूसरे किनारे पर बसा था। मुसलमान काल
इलाहाबाद नगर की नींव पड़ी थी परन्तु आगरा व अवध के मयु
प्रान्तों की राजधानी है बघेली प्रदेश के मध्य में कोई भी प्राम
जनपद या राजधानी नहीं था।

बुन्देलखंड प्राचीन चेदि जनपद है जहाँ का राजा शिशुपा
कृष्ण का सहज वैरी था। बुन्देली बोली हमीरपुर, झाँसी और जालौ

मन ही मन मनाव 'अकुलानी'। होउ प्रसन्न महेस भवानी।
नायक के सौंदर्य की अनुभूति में—क्योंकि सौंदर्य और 'रति' का घनिष्ठ अन्योन्याश्रय संबंध है—नायिका कभी अपने पिता पर खीजती है, और कभी उनके परामर्शदाताओं पर, और परीक्षा की कठोरता पर विचार करते हुए 'अधीरता' का पर्याप्त कारण पाती है

नेकु निरखि नयन भरि सोभा। पितु पन सुमिरि 'बहुरि मनु छोभा'।
अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभु न हानी।
सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध समाज बड़ अनुचित होई।
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।
बिधि 'केहि भाँति धरौं उर धीरा'। सिरस सुमन कत बेधिय हीरा।

नायिका का यह 'अधीरता' धीरे-धीरे उसको इतना व्यथित कर देता है कि यदि समाज का संकोच न होता तो वह सस्वर रुदन करने लगती, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे अपनी इस 'व्याकुलता' पर लज्जा आती है और वह सँभल जाती है :

'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी'। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना।
सकुचीं 'व्याकुलता बड़ि' जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी।

इसके अनंतर उसमें 'मति' का आगमन होता है और वह इस प्रकार 'निश्चय' करती है :

तन मन बचन मोर पनु साँचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा।
तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी।
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ 'न कछु संदेहू'।

किन्तु 'मति' [illegible] 'व्याकुलता' उसका [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है

देखी 'बिपुल बिकल बैदेही'। निमिष 'बिहात कलप सम' तेही।
तृषित बारि 'बिनु' जो तनु त्यागा। मुएँ करइ का सुधा तड़ागा।

संग लाइ करिनीं करि लेहीं। मानहु मोहि सिखावन देहीं।
सास्त्र सुचिंतित पुनि-पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं।

हनुमान ने लंका से लौटने पर राम को विरहातुरा सीता का जो 'प्रणय-सन्देश' सुनाया है उसे 'दैन्य' और 'विषाद' के भावों ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है :

नाथ जुगल लोचन भरि बारी। बचन कहे कछु जनककुमारी।
अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। 'दीनबन्धु' 'प्रनतारतिहरना'।
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी।
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नयनन्हि कर अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा।
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी। जरै न पाव देह बिरहागी।

कवि की अन्य कृतियों में 'रति' तथा उसके सहकारी भावों का जिन स्थलों पर विशेष रूप से चित्रण हुआ है उनमें से एक 'जानकी मंगल' में जानकी द्वारा जयमाला पहनाए जाने का स्थल है। उस स्थान पर 'रति' और 'लज्जा' की बाधा का चित्रण एक कल्पना द्वारा सुन्दर ढंग पर हुआ है :

सीय सनेह सकुच बस पिय तन हेरइ।
सुरतरु रुख सुरबेलि पवन जनु फेरइ॥
लसत ललित कर कमल माल पहिरावत।
काम फंद जनु चंदहि बनज फंदावत॥

दाम्पत्य 'रति' का एक अत्यन्त उत्कृष्ट और पूर्ण चित्र कवि ने 'गीतावली' में निर्वासित दम्पति के चित्रकूट की एक 'झाँकी' में उपस्थित किया है ; भावना की कोमलता उसमें दर्शनीय है :

फटिक सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।

मंदाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग विहग भीर
धीर मुनिगिरा गंभीर सामगान की।
मधुकर पिक बरहि मुखर सुन्दर गिरि निर्झर झर
जलकन घन छाँह छन प्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ संतत बहै त्रिविध बाउ
जनु विहारवाटिका नृप पंचबान की।
विरचित तहँ पर्नसाल अति विचित्र लपन लाल
निवसत जहँ नित कृपालु राम जानकी।
निजकर राजीवनयन पल्लवदल रचित सयन
प्यास परसपर 'पियूष' प्रेम पान की।
सिय अँग लिखैं धातुराग सुमननि भूषन विभाग
तिलक करनि का कहौं कृपानिधान की।
माधुरी विलास हास गावत जस तुलसिदास
वसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की॥

आर्पत्ति से सरस 'स्नेह' का एक चित्र 'कवितावली' में बड़ा सफल हुआ है।

जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखौ पिय छांह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखारिहौं भूभुर डाढ़े।
तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को 'नेह' लख्यो पुलको तनु बारि बिलोचन बाढ़े॥

'रामलला नहछू' तथा 'बरवै' की अमर्यादित शृंगारिकता एक भिन्न कोटि की है, विशेष रूप से 'रामलला नहछू' को, जिसके सम्बन्ध में विश्वास नहीं होता कि वह हमारे ही कवि की कल्पना से प्रसूत है; इसलिए उनमें चित्रित 'रति' तथा मनोरंजनीय भावों का विवेचन करने की आवश्यकता यहाँ पर न होगी।

———

सूरदास की कविता

सूरदास जी की कविता में सर्वप्रधान गुण यह है कि उसके पद पद से कवि की अटल भक्ति प्रदर्शित होती है। प्रत्येक मनुष्य का काव्य उत्तम तभी होता है जब वह सच्चा होता है। सच्ची कविता तभी बनती है जब कवि, जो उस पर बीते, अथवा जो उसमें उसके चित्त में उठें, अथवा जो भाव उसके चित्त में भरे हों, उन्हीं का वह वर्णन करे। यदि कोई लम्पट मनुष्य वैराग्य कथन करने बैठेगा तो वह सिवा चोरी के और क्या करेगा? उसके चित्त में वैराग्य का अभाव है। उसके चित्त-सागर को वैराग्य की तरंगों ने कभी चंचल नहीं किया है, तब वह बेचारा अनुभव न होने पर भी वैराग्य के सच्चे भाव कहाँ से ला कर वर्णित करे। यदि वह हठात् लिखने बैठ ही जायगा, तो वैराग्य के विषय में उसने इधर उधर से जो कुछ सुन लिया होगा, वही वह भरेगा। ऐसी दशा में उसकी कविता में सिवा नक़ल के कोई असली भाव न आवेगा। ऐसी ही कविता को निर्जीव कहना पड़ता है।

इसके विपरीत जो मनुष्य सचमुच विरागी है, उसके चित्त में वैराग्य-सम्बन्धी असली भाव उठेंगे और जब उनका वर्णन होगा तभी कविता असली और सजीव होगी। इसी कारण उर्दू के कवियों में यह कहावत प्रचलित है कि जब कोई शिष्य किसी खास उस्ताद से शायरी सिखलाने को कहता था, तो उस्ताद पहले यही कहता था कि जाओ, आशिक़ हो आओ। असली भावों की ही कविता ऐसी बनती है कि श्रोता को बरबस कहना पड़ता है—"थारी कविता में सूल्यां लग्यो।"

सूरदास की कविता प्रधानतः ऐसी है कि उसमें भक्ति का चित्र प्रत्येक स्थान पर देख पड़ता है। यह महाराज जाति-भेद, कर्मभेद आदि को तुच्छ मानकर केवल भक्ति को प्रधान और मानव हृदय का एकमात्र शृंगार समझते थे। इनके मत में, यदि कोई नर भक्त है, तो वह बड़ा है, चाहे जिस जाति अथवा पाँति का क्यों न हो।

तुलसीदासजी की भाँति और देवताओं को गाली प्रदान नहीं करते थे। सूरदास को एक ईश्वर का उपासक कहना चाहिए।

सगुणोपासना करने का कारण सूर ने इस प्रकार लिखा है:—
अविगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तर गति ही भावै॥
मन-बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख, गुन, जाति जुगतिबिनु निरालम्ब मन चकित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

इतने बड़े भक्त होने पर भी सूरदास अपने को इतने बड़े पतित समझते थे कि चित्त को आश्चर्य होता है। (पृष्ठ ११, संख्या ६६, पृष्ठ १२, संख्या ७१,) परन्तु इनकी इतनी प्रबल और प्रगाढ़ भक्ति के होते हुए भी कहना पड़ता है कि इनकी और तुलसीदास जी की भक्ति में भेद था। गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी परन्तु इनकी सख्य-भाव की। ये महाशय श्रीकृष्णचन्द्र को अपना मित्र समझते थे और इसी कारण इन्होंने राधाजी को भी भला बुरा कहा है, और जब श्रीकृष्ण भी कोई बेजा बात करते थे तब उन्हें भी सूरदास डांट देते थे। तुलसीदास जब कभी राम की नर-लीला का वर्णन करते हैं तब पाठक को यह अवश्य याद दिला देते हैं कि राम परमेश्वर हैं, केवल नर-लीला करते हैं। यह बात ऐसे भोंड़े प्रकार से भी वे सैकड़ों बार स्मरण दिलाते हैं कि जी उकता उठता है और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितने ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः पुनः स्मरण कराने की आवश्यकता है। यह बात सूरदास में नहीं है। वे एक दो बार स्मरण कराने को यथेष्ट समझते हैं। इन्होंने जहाँ तक हमें स्मरण है केवल दो स्थान पर सिफ़ारशी-छन्द दिये हैं परन्तु श्रीकृष्णचन्द्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक़ था। उन स्थानों को

बहुतायत से नहीं रखे, परन्तु जहाँ कहीं वे आये हैं वहाँ उत्तम रीति से आये हैं। इनकी दो घनाक्षरी भी मिली हैं सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिये गये हैं, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(३) उपमा-रूपक। ये महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसन्द करते थे, और इन्होंने उपमायें भी बहुत ही उत्तम खोज-खोज कर दी हैं। इनके अर्थ गाम्भीर्य्य, उपमा और पदलालित्य ऐसे उत्तम हैं कि किसी कवि को यह कहना ही पड़ा कि :—

'उत्तम पद कवि गंग के उपमा को बरबीर (बीरबल)।
केसव अरथ गँभीरता सूर तीनि गुन धीर॥'

उदाहरणार्थ इनके दो पद नीचे लिखे जाते हैं, जिनसे इन महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा।

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगुल कमल पर गज बर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सर बर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मानधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बड़ भाग॥"

"बरनौं श्री वृषभानु कुमारि।
चित दै सुनहु स्याम सुन्दर छबि रति नाहीं उनहारि॥
प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की सुषमा कहहुँ बिचारि।
मानहु फनिक रह्यो पावन को ससि मुख सुधा निहारि॥
बरनै कहा माँग सेंदुर को कवि जु रह्यो पचिहारि।
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि॥
भृकुटी विकट निकट नैनन के राजत अति बर नारि।
मनहु मदन जग जीति जेर करि राखेउ धनुष उतारि॥

ता बिच धनी आइ केसरि की दीन्हीं सखिन सँवारि।
मानो बँधी इन्दु मंडल में रूप सुधा की पारि॥
चपल नैन नासा बिच सोभा अधर सुरंग सुढारि।
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुब्ध्यो बिम्ब बिचारि॥
तरिवन सुभर अधर नकबेसरि चिबुक चारु रुचिकारि।
कंठ सिरी, दुलरी, तिलरी पर नहिं उपमा कहुँ चारि॥
सुरंग गुलाब माल कुच मंडल निरखत तन मन वारि।
मनो दिसि निर्धूम अगिनि के तपि बैठे त्रिपुरारि॥
जो मेरो कृत मानहु मोहन करिहउँ मनुहारि।
सूर रसिक तबहीं पै कहिहौ मुरली सकहु सम्हारि॥

(४) नखशिख। इन दोनों पूर्वोक्त पदों में कवि की नखशिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है।

(५) प्रबन्धध्वनि। इन महाराज ने अपनी कविता में पुराने व्याख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है।

(६) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। ये जिस बात का वर्णन विस्तार पूर्वक कर देते हैं उसमें फिर औरों के लिए बहुत कम भाव रह जाते हैं या तो ये महाराज बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं या पूरे विस्तार के साथ। इनके सविस्तार वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवाञ्छित भी इस कवि के भाव लिखने पड़ते हैं क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नये भावों की जगह छोड़ ही नहीं रखता। इसी कारण रीवाँनरेश महाराज रघुराजसिंहजी देव ने यथार्थ लिखा है कि :—

'मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग, बेनी, सम्भु, तोष, चिन्तामनि, कालिदास की। ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव पजन, घनानन्दहु, घनश्यामदास की॥ सुन्दर, मुरारि, बोधा, श्रीपति दयानिधि, जुगुल, कविन्द, त्यों गोविन्द केसोदास की। रघुराज

बहुतायत से नहीं रखे, परन्तु जहाँ कहीं ये आये हैं वहाँ उत्तम रीति से आये हैं। इनकी दो घनाक्षरी भी मिली हैं सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिये गये हैं, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(३) उपमा-रूपक। ये महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसन्द करते थे, और इन्होंने उपमायें भी बहुत ही उत्तम खोज-खोज कर दी हैं। इनके अर्थ गाम्भीर्य्य, उपमा और पदलालित्य ऐसे उत्तम हैं कि किसी कवि को यह कहना ही पड़ा कि :—

'उत्तम पद कवि गंग के उपमा को बरबीर (बीरबल)।
केसव अरथ गँभीरता सूर तीनि गुन धीर॥'

उदाहरणार्थ इनके दो पद नीचे लिखे जाते हैं, जिनसे इन महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा।

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगुल कमल पर गज बर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सर बर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और-और छबि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बड़ भाग॥"

'बरनौं श्री वृषभानु कुमारि।
चित दै सुनहु स्याम सुन्दर छबि रति नाहीं उनहारि॥
प्रथमहि सुभग स्याम बेनी की सुषमा कहहुँ बिचारि।
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससि मुख सुधा निहारि॥
बरनै कहा माग सेंदुर को कबि जु रह्यो पचिहारि।
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि॥
भृकुटी बिकट निकट नैनन के राजत अति बर नारि।
मनहु मदन जग जीति जेर करि राखेउ धनुष उतारि॥

ता बिच बनी आड़ केसरि की दीन्हीं सखिन सँभारि।
मानो बँधी इन्दु मंडल में रूप सुधा की पारि॥
चपल नैन नासा बिच सोभा अधर सुरंग सुढारि।
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुबध्यो बिम्ब बिचारि॥
तरिवन सुघर अधर नकबेसरि चिबुक चारु रुचिकारि।
कंठ सिरी, दुलरी, तिलरी पर नहिं उपमा कहुँ चारि॥
सुरंग गुलाब माल कुच मंडल निरखत तन मन वारि।
मनो दिसि निरधूप अगिनि के तपि बैठे त्रिपुरारि॥
जो मेरो छ्त मानहु मोहन करिल्यऊँ मनुहारि।
सूर रसिक तबहीं पै बदिहौं मुरली सकहु सम्हारि॥

(४) नखशिख। इन दोनों पूर्वोक्त पदों में कवि की नखशिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है।

(५) प्रबन्धध्वनि। इन महाराज ने अपनी कविता में पुराने व्याख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है।

(६) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। ये जिस बात का वर्णन विस्तार पूर्वक कर देते हैं उसमें फिर औरों के लिए बहुत कम भाव रह जाते हैं। या तो ये महाराज बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तार वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में प्रवाञ्छित भी इस कवि के भाव लिखने पड़ते हैं क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नये भावों की जगह छोड़ता ही नहीं रखता। इसी कारण रीवाँनरेश महाराज रघुराजसिंहजी देव ने यथार्थ लिखा है कि :—

'मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग, बेनी, सम्भु, तोष, चिन्तामनि, कालिदास की। ठाकुर, नेवाज, सेनापति, सुखदेव, देव पजन, घनानन्दहु, घनश्यामदास की॥ सुन्दर मुरारि, बोधा, श्रीपति दयानिधि, जुगुल, कविन्द, त्यों गोविन्द केसोदास की। रघुराज

बहुवायत से नहीं रखे, परन्तु जहाँ कहीं वे आये हैं वहाँ उत्तम रीति से आये हैं। इनकी दो घनाक्षरी भी मिली हैं सूर-कृत दो पद, जो उपमा और रूपक के वर्णन में दिये गये हैं, इनकी भाषा के भी अच्छे उदाहरण हैं।

(३) उपमा-रूपक। ये महाराज अपनी कविता में रूपक लाना पसन्द करते थे, और इन्होंने उपमायें भी बहुत ही उत्तम खोज-खोज कर दी हैं। इनके अर्थ गाम्भीर्य, उपमा और पदलालित्य ऐसे उत्तम हैं कि किसी कवि को यह कहना ही पड़ा कि :—

'उत्तम पद कवि गंग के उपमा को बरबीर (बीरबल)।
केसव अरथ गँभीरता सूर तीनि गुन धीर॥'

उदाहरणार्थ इनके दो पद नीचे लिखे जाते हैं, जिनसे इन महाराज के रूपक, उपमा, अनुप्रास और भाषा का अच्छा ज्ञान होगा।

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगुल कमल पर गज बर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सर बर, सर पर गिरवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ताहू पर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पालव, तापर सुक, पिक, मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और-और छवि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस, मानहु अधरन को बड़ भाग॥"

"बरनौं श्री वृषभानु कुमारि।
चित दै सुनहु स्याम सुन्दर छवि रति नाहीं उनहारि॥
प्रथमहि सुभग स्याम बेनी की सुषमा कहहुँ बिचारि।
मानहु फनिक रह्यो पीवन को ससि मुख सुधा निहारि॥
बरनै कहा सीस सेंदुर को कवि जु रह्यो पचिहारि।
मानहु अरुन किरन दिनकर की निसरी तिमिर बिदारि॥
भृकुटी बिकट निकट नैनन के राजत अति बर नारि।
मनहु मदन जग जीति जेर करि राखेउ धनुष उतारि॥

ता बिच बनी आइ केसरि की दीन्हों सलिल सँभारि।
मानो बँधी इन्दु मंडल में रूप सुधा की पारि॥
चपल नैन नासा बिच सोभा अधर सुरंग सुढारि।
मनो मध्य खंजन सुक बैठ्यो लुबध्यो बिम्ब बिचारि॥
तरिवन सुघर अधर नकबेसरि चिबुक चारु रुचिकारि।
कंठ सिरी, दुलरी, तिलरी पर नहि उपमा कहुँ पारि॥
सुरंग गुलाब माल कुच मंडल निरखत तन मन वारि।
मनो दिसि निरधूप अगिनि के तपि बैठे त्रिपुरारि॥
जो मेरो छवि मानहु मोहन करिल्यऊँ मनुहारि।
सूर रसिक तबहीं पै बरिहों मुरली सकहु सम्हारि॥

(४) नखशिख। इन दोनों पूर्वोक्त पदों में कवि की नखशिख वर्णन करने की योग्यता भी प्रकट होती है।

(५) प्रबन्धध्वनि। इन महाराज ने अपनी कविता में पुराने व्याख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है।

(६) सूरदास की कविता का प्रधान गुण एक यह भी है कि महाराज प्रत्येक वस्तु का बहुत सांगोपांग वर्णन करते हैं। ये जिस बात का वर्णन विस्तार पूर्वक कर देते हैं उसमें फिर औरों के लिए बहुत कम भाव रह जाते हैं। या तो ये महाराज बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं या पूर्ण विस्तार के साथ। इनके सविस्तार वर्णन कर देने पर अन्य कवियों को उसी विषय पर कुछ लिखने में अवाञ्छित भी इस कवि के भाव लिखने पड़ते हैं क्योंकि ऐसी दशा में यह महाकवि नये भावों की जगह छोड़ता ही नहीं रखता। इसी कारण रीवाँनरेश महाराज रघुराजसिंहजी देव ने यथार्थ लिखा है कि :—

'मतिराम, भूषण, बिहारी, नीलकंठ, गंग बेनी, सम्भु, तोष, चिन्तामनि, कालिदास की। ठाकुर नेवाज, सेनापति, सुखदेव, तेज पजन, घनानन्दहु, घनश्यामदास की॥ सुन्दर मुरारि, बोधा, श्रीपति दयानिधि, जुगुल, कविन्द, त्यों गोविन्द केसोदास की। रघुराज

कविगन की अनूठी उक्ति माहिं लगी भूठी जानि जूठी सूरदास की ॥'

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूरदास की कविता के नायक यशोदानन्दन और गोपिका वल्लभ श्रीकृष्ण थे। अतः इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र की उन कुल कार्य्यवाहियों को जो उन्होंने यशोदा अथवा गोपियों के सम्बन्ध में की हैं, पूर्ण विस्तार के साथ लिखा है।

(क) सबसे प्रथम जो बहुत उत्तम वर्णन सूरदास ने किया है वह कृष्ण प्रभु की बाललीला का है। जैसा उत्तम और सच्चा बाल-चरित्र इस महाकवि ने लिखा है वैसा संसार भर के किसी ग्रन्थ में हम लोगों ने अद्यावधि नहीं देखा। माता से माखन माँगा जाना, माता द्वारा बालक का लालन-पालन होना, माता का खीझना, चोटी बढ़ने के बहाने दूध पिलाना, चन्द्र के विषय झगड़ा, राम की कथा माता द्वारा सुनाई जाना, इत्यादि ऐसे उत्तम प्रकार से कहे गये हैं कि जान पड़ता है कि सचमुच कोई बालक माता के पास खेल रहा है। इसके उदाहरणस्वरूप किस छन्द का हम लिखें ? पूरा वर्णन पढ़ने से ही इसका स्वाद मिलता है। ज्यों ही माता ने कहा कि 'कजरी को पय पीवहु लाल तब चोटी बाढ़े' कि बालक ने तुरन्त दूध पीकर पूछा, 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी। किती बार मोहिं दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी'। उदाहरणार्थ एक छन्द नीचे लिखा जाता है:—

'मातु मोहि दाऊ बहुत खिझायो। मासों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायो ॥ कहा कहौं यहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात। पुन पुन कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात। गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर। चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर। तू मोहि मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै। मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति अति मन रीझै। सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई। जनमत ही को धूत। सूरस्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत ॥

(ख) बाललीला के पश्चात् इस महाकवि ने माखन चोरी का वर्णन बड़ा ही हृदयग्राही किया है। माखन-चोरी भी ऐसी वर्णित है

मानो कोई सचमुच गोपियों को खिझा रहा हो। यशोदा के पास उलाहना आना, और उनका गोपियों के कथन पर प्रतीति न करना, और पुत्र से इनकार सुनकर क्रोध के स्थान पर हर्ष-मग्न हो जाना बड़े ही स्वाभाविक रीति पर वर्णित हुए हैं। फिर बहुत अधिक शिकायतें सुनकर माता का कुछ क्रोध करना और बालक को समझाना, और फिर यह सुनकर कि कृष्ण ने माखन भी चुराया और गोपी के लड़के को भी मारा है, बालक को रस्सी से ऊखल में बाँध देना, यह सब बातें अत्यन्त स्वाभाविक रीति से लिखी गई हैं। ऊखल में बाँधने पर जब जब बालक रोया तब तब माता ने इस बात पर बड़ा जोर दिया कि बालक चोर है। चोरी पर ऐसे समय मे जोर देना बड़ा ही स्वाभाविक है, और यह प्रकट करता है कि एक ही बालक होने पर भी, और उसे प्राण से भी अधिक चाहने पर भी, यशोदा ऐसा काम देख कर अदूरदर्शिनी माताओं की भाँति चुप न बैठ कर बड़ा दण्ड भी देती थी। माखन-चोर-लीला का भी वर्णन अत्यन्त रोचक तथा स्वाभाविक है।

(ग) ऊखल बन्धन के पश्चात् काली-पराजय, दावानल-पान, और चीर-हरण भी बड़े ही उत्तम वर्णन हैं। उद्धृत करने से लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा, अतः हम यहाँ कोई छन्द नहीं लिखते, परन्तु ये वर्णन देखने ही योग्य हैं।

(घ) इसके पीछे रासलीला, मान एवं मान-मोचन के भी वर्णन बड़े ही विशद हैं। इससे प्रकट होता है कि यह महाकवि एक ही विषय को कितनी दूर तक और कितनी उत्तमता से कह सकता है और महा-भक्त होने पर भी शृंगार रस के गूढ़ विषयों का इसको कितना उत्तम ज्ञान है। यह कहना पड़ेगा कि माखन-चोरी और रासविलास में वर्णन इतना सविस्तार हो गया है कि यह नहीं कहा जा सकता कि यह केवल शृंगार रस कहने वालों की रचना की भाँति खरा काव्य है या किसी कथा का अंग। यदि कोई केवल कथा-प्रसंग जानने के विचार से इसे पढ़ने बैठे तो उसका जी अवश्य

दी है। उद्धव-संवाद और कृष्ण-मथुरा-गमन को पढ़ कर पड़ता है कि सूरदासजी वियोग शृंगार के कथन में बड़े ही पटु थे। वियोग का वर्णन किसी दूसरे कवि ने ऐसा उत्तम और स्वाभाविक नहीं किया है। इस विषय में भी कोई छन्द उदाहरणार्थ लिखना हम उचित नहीं समझते क्योंकि एक रोयें से सिंह का अनुभव नहीं कराया जा सकता।

(छ) उद्धव-संवाद भी बहुत ही विस्तृत रूप से कहा गया है। यह भी आद्योपान्त प्रेमालाप से भरा हुआ है, और ऐसा कोई भाव न बचा होगा जो इसमें न आगया हो। इसमें बड़े ही उत्तम पद मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक पद नीचे लिखा जाता है :

'ऊधव मन न भये दस बीस। एक हुतो सो गया स्याम सँग को अवराधै ईस॥ इन्द्री सिथिल भईं केसव बिनु ज्यों देहीबिनु सीस। आसा लगी रहति तनु स्वासा जीजै कोटि बरीस॥ तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के सकल जोग के ईस। सूरदास वा रस की महिमा जो पूछै जगदीस॥

अन्त में उद्धवजी भी ज्ञान भूलकर प्रेम-मग्न हो गये, और प्रेमियों की भाँति कृष्ण के विहार-स्थल देखते फिरे और फिर यदुपति के पास जाकर उन्होंने गोपियों की बड़ी शिफ़ारिस की।

(ज) अन्य राजाओं की कथा एवं युद्ध इत्यादि का वर्णन करने का प्रयत्न इस सच्चे कवि ने इन विषयों से सहृदयता न होने के कारण, नहीं किया और न वे वर्णन अच्छे बने ही हैं। महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदासजी में यही अन्तर है कि गोस्वामीजी ने कुल बातों का वर्णन अच्छा और अपने खास विषयों का बड़ा ही विशद किया है, परन्तु महात्मा सूरदास ने अपने खास विषयों का वर्णन ऐसा किया है जैसा कि गोस्वामीजी या सम्भवतः किसी विश्व का कोई कवि नहीं कर सका है, परन्तु साधारण विषयों का कथन इन्होंने साधारण कवियों से भी खराब किया है। उनको उत्तम प्रकार से कहने का इन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। इसी

'नैना नाहीं कछू विचारत। सनमुख समर करत मोहन सों यद्यपि हैं हठि हारत ॥ अवलोकत अलमान नवल छवि अमित तोष अति आरत। तमकि-तमकि तरकत मृगपति ज्यों घूँघट पटहि विदारत ॥'

(६) सूरदास ने कई स्थानों में पदों द्वारा कथा कह के फिर साधारण छन्दों में सूक्ष्मतया उनको दुहराया है। इन सब में *काली की द्वितीय कथा उत्तम है, परन्तु उसमें भी यह दोष है* कि कृष्ण और नागिन की बातचीत में कृष्ण ने नागिन को बहुत फटकार है। कृष्ण भगवान् उस समय बालक थे; शायद यह विचार करके सूर ने ऐसा कहलाया हो।

(७) सूर ने ठौर-ठौर पर कूट भी लिखे हैं और इनमें अलंकार और रसाग भी आये हैं। उदाहरण में सरदार कृत सूर दृष्ट कूट हम यहाँ लिखते हैं। उसका अर्थ भी सरदार ने लिखा है।

'जनि हठ करहु सारंग नैनी। सारँग ससि सारँग पर सारँग ता सारँग पर सारँग बैनी ॥ सारँग रसन दसन गुनि सारँग सारँग सुतहद निरखनि पैनी। सारँग कहौ सुहौन विचारौ सारँग पति सारँग रचि सैनी ॥ सारँग सदनहि लेजु बहन गये अजहुँ न मानत गत भई रैनी। सूरदास प्रभु तव मग जोवै अन्धक रिपुता रिपु सुख देनी ॥'

(८) इन्होंने लोगों का शील गुण भी अच्छा दिखाया है। यशोदा के यद्यपि एक ही पुत्र वृद्धावस्था में हुआ था तथापि ये उसकी बेजा चाल-ढाल पर कड़ा दंड तक देती थीं और ऐसा उदाहरण भी मिलता है कि रोहिणी पुत्र बलदेव का अपने पुत्र से भी अधिक सम्मान करती थीं।

'हलधर कहत प्रीति जसुमति की। एक दिवस हरि खेलत मोसों झगरो कीन्हों पेल। माको होरि गाइ करि लीन्हो इनहिं दियो कर ठेलि ॥'

इन्होंने कृष्ण के चले जाने पर देवकी ने जो सन्देशा कहला भेजा है वह विशेषतया द्रष्टव्य :

'सँदेसो देवकी सों कहियो। हौंतौ धाय तिहारे सुत की मया करत नित रहियो॥ यदपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहि कहि आवै। प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन रोटी भावै॥ तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भगि जावै। जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हावै॥ सूर पथिक सुनि मोहि रैनि दिन बढ़ो रहत उर सोच। मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत सकोच॥

यशोदा के शील गुण में केवल यह बात अनुचित जान पड़ती है कि इन्होंने नन्द से बारम्बार कहा, 'दसरथ तुम से अच्छे थे, क्योंकि तुम पुत्र को मथुरा में छोड़ कर जीते जागते घर चले आये।' परन्तु इन्होंने शायद अपनी यथार्थ भाषण की टव से ऐसा कहला दिया—

कुब्जा का शीलगुण भी नौ सखियों की भाँति खूब ही दिखाया गया है। वह समझती थी कि गोपी ग्रामीण थीं अतः श्याम को अपने वश में न रख सकीं, परन्तु वह खुद नागर थी अतः उसने उन्हें लुभा लिया। उन दासी ने केवल यह सोचा ही नहीं वरन् गोपियों से उद्धव द्वारा यह कहला भी भेजा।

(६) यद्यपि सूरदास खुद श्याम के भक्त थे, तथापि इन्होंने गोपियों के मुख से काले की खूब निन्दा कराई है और अन्त पर्य्यन्त किसी स्थान पर भी तुलसीदास जी की भाँति कोई शिकायती छन्द नहीं लिखा। वे कहती थीं कि—

'सजनी श्याम सबै इक सार
मीठे वचन सोहाये बोलत अन्तर जारन हार॥
भँवर कुरंग काग अरु कोकिल कपटिन की चटसार।'

'सखीरी स्याम कहा हितु जानै।
कोऊ प्रीति करो कैसेहू वह अपने गुन ठानै॥
देखो या जलधर की करनी बरषत पोषै आनै।
सूरदास सरबसु जो दीजै कारो कृतहि न मानै॥
ऊधव कारे सबहि बुरे।'

इससे ज्ञात होता है कि सूरदास ऐसे संकीर्ण हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता तो उनसे गोस्वामी तुलसीदासजी की भाँति बिना अपनी राय प्रकाश किये न रहा जाता। अँगरेजी में ऐसे कवियों को Poets of general vision (सर्वव्यापिनी दृष्टि के कवि) कहते हैं। सूरदास जी इसी प्रकार के कवि थे। भाषा-साहित्य में सूरदास जी, तुलसीदास जी और देव जी सर्वोच्च तीन कवि हैं। इनमें न्यूनाधिक बतलाना मत-भेद से खाली नहीं है। अतः सूरदास जी की गणना भाषा के तीन सर्वोच्च कवियों में है और निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इनसे कोई भी अच्छा है। यह महात्मा हिन्दी के वाल्मीकि हैं। उन्हीं के समान ये हिन्दी के वास्तविक प्रथम कवि हैं और उन्हीं के समान इनके भी वर्णन पूर्ण, बड़े और सर्वाङ्ग सुन्दर होते हैं।

बिहारी का विरह-वर्णन

अन्य कवियों की अपेक्षा बिहारी ने विरह का वर्णन बड़ी विचित्रता से किया है, इनके इस वर्णन में एक निराला बाँकपन है, कुछ विशेष 'वक्रता' है, व्यंग्य का प्राबल्य है, अतिशयोक्ति का (जो कविता की जान और रस की खान है) और अत्युक्ति या अत्युक्त उदाहरण है, जिस पर रसिक सुजान भी जान से फिदा हैं। इस मजमून पर और कवियों ने भी खूब जोर मारा है, बहुत ऊँचे उड़े हैं, बड़ा तूफान बाँधा है, 'क़यामत बरपा' कर दी है, पर बिहारी

की चाल—इनका मनोहारी पद विन्यास सब से अलग है। उस
नीलकण्ठ दीक्षित की यह उक्ति पूरे तौर पर घटती है—

"वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि,
वाक्यार्थ बाधः परमः प्रकर्षः।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः
साकाचिद्न्यासरतिः कवीनाम् ॥"●

× × ×

सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि विरहिनि-तन-ताप।
बसिबे को ग्रीषम दिननि, पर्‍यौ परोसिन पाप॥

सखी नायक से (अथवा सखी से) नायिका का विरह-निवेदन
कर रही है कि शीतलोपचार से—ठंडे उपायों से—शिशिर ऋतु (अग-
हन-पूस) में तो विरहिणी के तन को ताप पड़ोसियों ने किसी तरह
सहन की। पर अब ग्रीष्म (ज्येष्ठ-आषाढ़) के दिनों में उन्हें उसके पास
में बसना पाप (दुखप्रद) हो गया।

आड़े दै वसन, जाड़े हू की राति।
साहस कै कै नेहबस, सखी ढिग जाति॥

जाड़े की रात में भी, पानी से भीगे कपड़े की आड़ करके (ओढ़
कर या ओट करके) सारी सखियाँ प्रीति के कारण हिम्मत करके उस
(विरहिणी) के समीप जाती है।

जाड़े की रात में जब कि शीतादिक से ठिठुरे हुए अंग को
आग तपाकर ठीक करने की आवश्यकता पड़ती है, जलती हुई सिगड़ी,
सुलगती हुई अंगीठी और दहकते हुए अलाव के सामने बैठना नितान्त
सुखकर प्रतीत होता है [illegible] विरहिणी के पास उसकी [illegible]
प्रेरित होकर हिम्मत करके गीले कपड़े की आड़ में जाती है।

● वक्रोक्ति—बाँकपन ही जहाँ विभूषण है [illegible] पदों के [illegible] अर्थ—
[illegible]बातों के साथ [illegible] के तिरस्कार ही जहाँ [illegible] [illegible] है,
[illegible]अभिधा शक्ति से वाच्य [illegible] का प्रकट करना ही जहाँ दोष है, कवियों के [illegible]
[illegible]विन्यास प्रधान ऐसा मार्ग सब से निराला है।

आत्मविस्मृति इत्यादि दशा का बोध होता है। विपत्ति और व्याकुलता की दशा में मनुष्य संज्ञाशून्य-सा हो जाता है, उसे अपने अनुभव और ज्ञान पर पूरा भरोसा नहीं रहता, प्रत्यक्ष सिद्ध विषयों पर भी सन्देह होने लगता है, निश्चयात्मक ज्ञान जाता रहता है। बिहारी ने विरहिणी की उद्वेग दशा का यह बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, इस बयान में क्या ही भोलापन है, "मालूम नहीं इस जलाने वाले चन्द्रमा का नाम 'शीतकर' क्यों रखा गया है।" इस विवक्षित अर्थ में से "विरहीजनों का दुःख प्रद जलाने वाला" यह भाव शब्द द्वारा प्रतीत नहीं कराया गया, किन्तु "विरह बस" पद से ध्वनि द्वारा बतलाया गया है। यह विरहीजनों को जला रहा है; इससे इसे 'शीतकर' न कहकर चण्डांशु कहना चाहिए। इस प्रकार हेतुपुरःसर खुले कथन में वह "सहृदय-हृदयैक सवेद्य" आनन्द नहीं रहता। विरह व्याकुल जन की उस उद्वेग और दैन्य दशा में इस हेतुवाद या "कौन पशु इसे चन्द्रमा कहता है यह तो सूर्य निकल रहा है" इस प्रकार के "प्रौढ़िवाद" का साहस कैसे हो सकता है? विरह-जन्य पागलपन की दशा में यह शास्त्रीय ज्ञानगुदड़ी—(रण में सन्मुख लड़कर मरा हुआ वीर सूर्यमण्डल को भेदन करके दिव्यलोक को प्राप्त होता है) और वीर रसोचित मोलों लम्बे समास, कुछ वैसे अच्छे नहीं लगते जैसा कि—"विरह के कारण मैं ही बावली हो रही हूँ या सब गाँव बावला है, क्या समझ कर ये लोग इस चन्द्रमा को शीतकर कहते हैं—" यह सीधा-सादा, भोला-भाला, दैन्य दशोचित सन्देहात्मक कथन।

× × ×

इत आवत चलि जाति उत, चली छ सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे से रहै, लगी उसासनि साथ॥

श्वास छोड़ने के समय छ सात हाथ इधर-आगे की ओर—चली आती है और श्वास लेने के समय छ सात हाथ पीछे चली जाती है। उच्छ्वासों के झोंकों के साथ लगी हिंडोले पर चढ़ी-सी झूलती रहती है।

तन्वी की विरहकृशता और वियोग में दीर्घोच्छ्वासों की बहुलता और प्रबलता कैसे अच्छे ढंग से वर्णन की है। नायिका विरह में इतनी कृश हो गई है कि श्वासों के हिचकोले पर चढ़ी हुई, इधर से उधर झूलती रहती है।

विरह-कृशता का वर्णन महाकवि विल्हण ने भी अपने अनुपम काव्य "विक्रमाङ्क-देव चरित" के नवम सर्ग में अच्छा किया है। यथा—

> प्राप्ता तथा तानवमङ्गयष्टि—
> त्वद्विप्रयोगेण कुरंगदृष्टेः
> धत्ते गृहस्तम्भानश्चलितेन
> कम्पं यथा श्वास—समीरणोत्थं"

राजा से 'चन्द्रलेखा' के पूर्वानुराग का वर्णन करता हुआ दूत कहता है कि तुम्हारे वियोग से उसकी शरीर-लता इतनी कृश हो गयी है कि मकान के खम्भे से टकराकर लौटे हुए अपने श्वास-समीरण से भी वह हिलने लगता है।

बिहारी का वर्णन विल्हण से बहुत बढ़िया है। इन्होंने गृहस्तम्भ से टकरा कर लौटी हुई श्वासवायु से शरीर को सिर्फ कँपाया ही है। बिहारी ने श्वासों के हिंडोले पर बिठला, कर छः छः सात सात हाथ लम्बे झोंटे दिला दिए हैं। दया की, जो आह की आँधी में तिनके वो पत्ते की मानिन्द उड़ा न दिया।

"जुरअत" का यह शेर भी दोहे की तुलना को नहीं पहुँचता —

> "नातवां हूँ बसिक 'जुरअत' से तेरी फुर्कत-काह[1]।
> कब सबा फेर है इस पहलू से उस पहलू मुझे॥
> "ऐसो विरह ऐसी भई नैन न छोड़तु नाथ।
> रोने हूँ ममता धतीन, चाहे कसे है, न माथ॥

[1] विरह, १, [illegible]

मौत आँखों पर चश्मा लगाकर भी ढूँढना चाहे तो शायद उसे न देख सके। निकृष्ट विरह ने उसको ऐसी दशा कर दी है। पर वह प्रेमपन्थ को इतने पर भी नहीं छोड़ती।

विरहजन्य कृशता की पराकाष्ठा है। आँखों पर चश्मा चढ़ा कर भी मौत नहीं देख सकती।

"ज़फ़र" भी एक बार हिज्र (वियोग) में नातवानी (दुर्बलता, कृशता) के कारण ही क़ज़ा (मौत) की निगाह से बच गये थे। शायद उस वक्त ढूँढने वाली मौत के पास चश्मा नहीं था। वरना वह ज़रूर ढूँढपाती क्योंकि "ज़फ़र" की नातवानी बिहारी की विरहिणी की तरह परमाणुता को नहीं पहुँचती थी। ज़फ़र का शेरसुनिए :

"नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने कोने ढूँढती फिरती क़ज़ा थी, मैं न था"॥

"मैं न था" पद यह भी प्रकट करता है कि हज़रते "ज़फ़र" मौत के डर से मौक़ा वारदात छोड़कर शायद कहीं जा छिपे थे। इसलिए भी कज़ा उन्हें न पा सकी। पर बिहारी की विरहिणी घटनास्थल से भागी नहीं, किन्तु वहीं डटी है। "तऊ गेह न छाँड़त" शब्द इस बात की गवाही दे रहे हैं।

× × ×

'आतिश' ने इसी भाव को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"चश्मे हैं दीदए—बारीकबीं[1] को,
करे एनक तलब चे नातवानी।"

'नासिख़' कहते हैं :

इन्तहाए—लाग़री[2] से जब नज़र आया न मैं,
हँस के वह कहने लगे बिस्तर को झाड़ा चाहिए।

१ बारीक देखने वाली आँख वह नातवानी बारीक देखने वाली आँख के लिए भी ऐनक चाहेगी, ऐनक से ही देख सकेगी।
२ पराकाष्ठा की कृशता।

"दाग़" फ़रमाते हैं—

उठे दस्ते-दुआ क्या, ज़ोफ़ ने ऐसा घुलाया है ।
जिसे हम हाथ समझे थे वो खाला आस्तीं निकली ॥

'नज़ीर' अकबराबादी कहते हैं—

मुझ ज़ुल्फ़ के मारे को न ज़ंजीर पिन्हाओ ।
काफ़ी है मेरी क़ैद को एक मकड़ी का जाला ॥
ये नातवाँ हूँ कि आया जो यार मिलने को ।
वो सूरत उसकी उठा के पलक न देख सका ॥

+ + + +

सुनत पथिक मुँह महि निसि, लुएं चलति उहि गाम ।
बिन बूझे बिनही सुने, जियत बिचारी बाम ॥

पथिक के मुँह से यह सुनकर कि उस गांव में माघ मास की रात में भी लुएं चलती है, (वियुक्त पथिक) बिना बूझे और बिना सुने ही स्त्री का जीवित होना जान गया।

"कोई दूर देशस्थ वियुक्त पथिक अपनी प्राणप्रिया का मंगलसंवाद सुनने के लिए चिन्तित है। मुद्दत से घर की खबर नहीं मिली। यह भी मालूम नहीं कि घर वाली जीवित है या उसके प्राण-पखेरू प्रिय को ढूंढने के लिए प्रयाण कर चुके हैं। इसी समय उसके गांव की ओर से आने वाले कुछ बटोही आपस में बैठे बातें कर रहे हैं कि अमुक गांव में माघमास की रात में भी लुएं चलती हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है।" यह सुनकर उसने अनुमान कर लिया कि उसकी प्रिया अवश्य जीवित है अन्यथा माघमास की रात में लुएं क्यों चलतीं ? मेरी विरहिणी के तनताप और विरह-सन्तप्त निश्वास ने ही वहाँ की माघरात्रि को ज्येष्ठ-आषाढ़ का मध्यान्ह बना रखा है। बे मौसम माघ की रात में लुएं चलने का और कोई कारण हो ही नहीं सकता। इसलिए उसने उनसे इस विषय में कुछ और पूछना या सुनना निरर्थक समझ, प्रिया को जीवित समझ घर चलने की ठानली।

एक और कवि ने भी किसी प्रवासी को वर्षा ऋतु की मूसला-धार वृष्टि में भी उसके घर से धूल के बगूले उठते रहने का समाचार किसी के द्वारा पहुँच कर विरहिणी की जीवित दशा का बोध कराया है।

बरसत मेह अछेह अति, अवनि रही जल पूरि।
पथिक तऊ तुव गेह तें, उठत भभूरन धूरि॥

बिहारी का दोहा इससे यहीं भाव भरा और गम्भीर है। क्यों कि यहाँ तो स्पष्टता पूर्वक प्रत्यक्षरूप में स्वयं पथिक से ही कोई उसके घर का वर्णन कर रहा है कि निरन्तर मूसलाधार मेह बरस रहा है, जिससे जल-जंगल एक हो गया। सर्वत्र पानी ही पानी दीखता है। सुरकी या धूल का कहीं नामोनिशान भी नहीं। परन्तु तुम्हारे घर से इतने पर भी धूल के बगूले उठ रहे हैं।

संभव है, यह वक्ता दूत बनकर आया हो और उसकी नायिका के विरह-सन्ताप का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करके उसे घर ले जाना चाहता हो। यद्यपि धूल उड़ने के कारण का—विरह-सन्ताप का—उल्लेख यहाँ भी साफ शब्दों में नहीं है, तथापि वक्ता का इस प्रकार पथिक को अभिमुख करके कथन, गाँव भर में केवल उसी के घर से धूल के बगूले का उठना, विरह-सन्ताप का बोध स्पष्ट रीति से अनायास करा रहा है।

अब ज़रा बिहारी के विरही पर दृष्टि डालिये। उसकी दशा [बि]ल्कुल इससे भिन्न है। वे पथिक जो उस रास्ते के गाँव को लुओं का [व]र्णन आपस में बैठे यों ही आश्चर्य घटना समझ कर कर रहे हैं, [उन्हें] मालूम नहीं, कि हमारे इस कथन को लुओं वाले उस गांव का [कोई] आदमी भी सुन रहा है। लुएं उस गाँव में क्यों चलती हैं? किस [कारण] से चलता है? वहाँ कोई विरह-ज्वाला-सन्तप्त प्रोषितपतिका [रहती] है या नहीं? इत्यादि बातों का उन्हें कुछ पता ही नहीं, वे इस [बात] का कोई जिक्र नहीं कर रहे, जिससे प्रतीत होता है कि वे एक [अद्भु]त और आश्चर्यकारक घटना का वर्णन किसी को सुनाने को

कर रहे हैं। उनके कथन में किसी प्रकार की अत्युक्ति, बनावट या अतिरंजना का कोई कारण किसी प्रकार भी लक्षित नहीं होता, उनकी बेलाग बातों से मालूम होता है कि सचमुच ही उस गाँव में माघ की रात में लुएं चल रही होंगी। लुएं चलने के परम्परा से कारणीभूत उस सुनने वाले ने इतने ही से अपनी विरह-विधुरा प्रिया के जीवित होने का पक्का अनुमान कर लिया। लुएं चलने के कारण को वह समझ गया, उसे उस सुनी हुई आश्चर्य घटना से समुत्पन्न अपने अनुमान की सत्यता पर इतनी आस्था थी कि उसने उन कहने वालों से अधिक पूछना या जिरह करना तक फिजूल समझा। चुपचाप अपने घर की राह ली।

गाँव भर में लुएं चल रही हैं और सिर्फ एक घर से धूल उड़ रही है। दोनों में—"अन्तर महदन्तरम्"।

किसी संस्कृत कवि ने भी कुछ ऐसी ही घटना का वर्णन दूसरे ढंग पर किया है—

भद्रात्र ग्रामके त्वं वससि परिचयस्तेऽस्ति जानासि वार्ता-
मस्मिन्नभ्यन्तरजाया जलधर रसितोत्का न काचिद्विपन्ना ?
इत्थं पान्थः प्रवासावधिदिन विगमापाय शङ्की प्रियायाः
पृच्छन् वृत्तान्तमारात्स्थित निजभवनोऽप्याकुलो न प्रयाति ॥

कोई पथिक प्रवास की अवधि बीतने पर बहुत दिनों बाद घर लौट रहा है, गाँव के समीप पहुँच गया है, घर के पास ही बैठा है, पर आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं पड़ती। उसे सन्देह है कि प्राणप्रिया इस बीच में कहीं चल न बसी हो, मालूम करके चलना चाहिए। सामने कोई आरहा है, उससे पूछता है कि भाई! तुम इसी गाँव में रहते हो? यहाँ के लोगों से तुम्हारा परिचय है? यहाँ का हाल कुछ जानते हो? तुम्हें मालूम है यहाँ कोई 'प्रोषितपतिका' बादलों की घोर गर्जना से उत्कंठित होकर मर तो नहीं गई है?

इन पथिक महाशय के इस पूछने के ढंग से प्रतीत होता है कि आप कहीं चौदह वर्ष का वनवास काट कर महाप्राणता की कृपा से

सही सलामत अभी लौटे आरहे हैं। इस बीच में गाँव की हालत बदल गयी है, उसमें कहीं बाहर के कुछ नये लोग भी आ बसे हैं, जो इनके सामने छोटे बालक थे, वह अब बढ़ कर इतने बड़े हो गये कि पहचाने नहीं जाते। इसी दशा में इस प्रकार पूछना संभव है, या ऐसा हो कि अपने गांव से कहीं दूर (आरात् दूरसमीपयोः , रास्ते के किसी दूसरे गाँव में ही किसी से पूछ रहे हैं—शकुन ले रहे हैं या अनुमान के लिए अवलम्ब ढूँढ रहे हैं, यहाँ ऐसी घटना हुई होगी, कोई प्रोषितपतिका नेवशब्द को सुनकर मर गई, तो वहां भी ऐसा हुआ होगा, नहीं तो नहीं। शकुन बाँह पकड़ेगा, सहारा देगा, अनुमान अनुकूल होगा, तो चलेंगे, नहीं तो लौट चलेंगे। कुछ भी हो, बिहारी का चटपटा बयान सुनकर यह झटपटा व्याकुल वचन किसी प्रकार भी—"संस्कृत वाचा बलात्प्रेयमाणा नपि–सहृदय–हृदयमन्दिरम् न प्रयाति।"

दूसरे कवियों का विरह-वर्णन—

बिहारी के विरह-वर्णन का कुछ नमूना सुन चुके। दूसरे कवियों के विरह-वर्णन की विचित्र बानगी भी देखिए—

प्यारो परदेश को गनावे दिन ज्योतिषी सों
व्याकुल ह्वै लखत लगन लीक खोंचवे,
सुनत सगुन तन तहनी को मैन तयो,
प्रान गयो पिघलि सरस अंच आंचवे।
कविहि दुखित कर गह्यो लाज पांचवे,
धार गयो चटक पटक नारि पर गयो
मुद्रा छोट चाँदी भई बिरह की आंचवे॥

प्रिय परदेश जाने के लिए ज्योतिषी से दिन पूछ रहा है—मुहूर्त [illegible] करा रहा है। प्यारो, ज्योतिषी को लग्न को रेखा खींचते [illegible] कुशला से खड़ी देख रही है। शकुन का नाम सुनते ही उस [illegible] प्रवत्स्यत्पतिका के शरीर में कुछ ऐसी आग भड़की कि [illegible]

की तरह प्राण पिघल गया। सास ने विदाई की रस्म के लिए (उसी) बहू से थाली में रखकर नारियल आदि लाने को कहा, कहने सुनने से किसी तरह वह यह चीजें ले तो आई, पर विरहाग्नि की आँच से थाल चटक गया, नारियल चटक गया और रुपया पिघल कर चांदी बन गया।

> सीतकाल जल मौंमते, निकसत भाप सुभाय
> मानो कोऊ विरहनी, अब ही गयी अन्हाय"

जाड़ों के दिनों में जो नदी या तालाब के पानी से भाप उठती है, इस पर क्या अच्छी "उत्प्रेक्षा" है। मानो कोई विरहिणी अभी इस में नहाकर गई है, उसके तन व ताप से जल इतना गरम हो गया है कि उससे भाप निकल रही है।

'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति

'पद्मावत' की आख्यायिका से स्पष्ट है कि वह एक प्रेम-कहानी है। अब संक्षेप में यह देखना चाहिए कि कवियों में दाम्पत्य प्रेम का आविर्भाव वर्णन करने की जो प्रणालियां प्रचलित हैं, उनमें से पद्मावत में वर्णित प्रेम किसके अन्तर्गत आता है।

(१) सब से पहले उस प्रेम को लीजिए जो आदिकाव्य रामायण में दिखाया गया है। इसका विकास विवाह-सम्बन्ध हो जाने के पीछे और पूर्ण उत्कर्ष जीवन की विकट स्थितियां में दिखाई पड़ता है। राम के बन जाने की तैयारी के साथ ही सीता के प्रेम का स्फुरण होता है; सीता-हरण होने पर राम के प्रेम की कान्ति सहसा फूटती हुई दिखाई पड़ता है। वन के जीवन में इस पारस्परिक प्रेम की आनन्द-विधायिनी शक्ति लक्षित होती है और लंका की चढ़ाई में इसका तेज, साहस और पौरुष। यह प्रेम अत्यन्त स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है। यह विलासिता या कामुकता के रूप में हमारे सामने नहीं आता बल्कि मनुष्य-जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप

में दिखाई पड़ता है। उभय पक्ष में सम होने पर भी नायक-पक्ष में यह कर्त्तव्य-बुद्धि द्वारा कुछ संयत सा दिखाई पड़ता है।

(२) दूसरे प्रकार का प्रेम विवाह के पूर्व का होता है, विवाह जिसका फल-स्वरूप होता है। इसमें नायक-नायिका संसार-क्षेत्र में घूमते फिरते हुए कहीं—जैसे उपवन, नदी-तट, वीथी इत्यादि में—एक दूसरे को देख मोहित होते हैं और दोनों में प्रीति हो जाती है। अधिकतर नायक की ओर से नायिका की प्राप्ति का प्रयत्न होता है। इसी प्रयत्न-काल में संयोग और विप्रलंभ दोनों के अवसरों का सन्निवेश रहता है और विवाह हो जाने पर प्रायः कथा की समाप्ति हो जाती है। इसमें कहीं बाहर घूमते फिरते साक्षात्कार होता है इससे मनुष्य के आदिम प्राकृतिक जीवन की स्वाभाविकता बनी रहती है। अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी आदि की कथा इसी प्रकार की है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सीता और राम के प्रेम का आरम्भ विवाह से पूर्व दिखाने के लिये ही उनका जनक की वाटिका में परस्पर साक्षात्कार कराया है। पर साक्षात्कार और विवाह के बीच के थोड़े से अवकाश में परशुराम वाले झमेले को छोड़ प्रयत्न का कोई विस्तार दिखाई नहीं पड़ता। अतः रामकथा को इस दूसरे प्रकार की प्रेम-कथा का स्वरूप न प्राप्त हो सका।

(३) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय प्रायः राजाओं के अंतःपुर, उद्यान आदि के भीतर भोग-विलास या रंग-रहस्य के रूप में दिखाया जाता है, जिसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास-परिहास और राजाओं की स्त्रैणता आदि का दृश्य होता है। उत्तर काल के संस्कृत-नाटकों में इसी प्रकार के पौरुषहीन, निःसार और विलासमय प्रेम का प्रायः वर्णन हुआ है, जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी इत्यादि में। इसमें नायक को कहीं बाहर वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है; वह घर के भीतर ही लुका-छिपी, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।

नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का। जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है। राजा रत्नसेन सूए के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुन योगी हो कर घर से निकल जाता है और मार्ग के अनेक दुःखों को झेलता हुआ सात समुद्र पार करके सिंहलद्वीप पहुँचता है। उधर पद्मावती भी राजा के प्रेम को सुनकर विरहाग्नि में जलती हुई साक्षात्कार के लिये विह्वल होती है और जब रत्नसेन को शूली की आज्ञा होती है तब उसके लिये मरने को तैयार होती है।

एक प्रकार का और मेल भी कवि ने किया है। फ़ारसी की मसनवियों का प्रेम ऐकांतिक, लोक-बाह्य और आदर्शात्मक (Idealistic) होता है। वह संसार की वास्तविक परिस्थिति के बीच नहीं दिखाया जाता, संसार की और सब बातों से अलग एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में दिखाया जाता है। उसमें जो घटनाएं आती हैं वे केवल प्रेममार्ग की होती हैं, संसार के और व्यवहारों से उत्पन्न नहीं। साहस, दृढ़ता और वीरता भी यदि कहीं दिखाई पड़ती है तो प्रेमोन्माद के रूप में, लोक-कर्त्तव्य के रूप में नहीं। भारतीय प्रेम-पद्धति आदि में तो लोक-संबद्ध और व्यवहारात्मक थी ही, पीछे भी अधिकतर वैसी ही रही। आदि कवि के काव्य में प्रेम लोक-व्यवहार से कहीं अलग नहीं दिखाया गया है; जीवन के और और विभागों के सौंदर्य के बीच उसके सौंदर्य की प्रभा फूटती दिखाई पड़ती है। राम के समुद्र-पुल बांधने और रावण ऐसे प्रचण्ड शत्रु को मार गिराने को हम केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते; वीर-धर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में देखते हैं। पीछे कृष्ण-चरित्र, कादंबरी, नैषधीय-चरित, माधवानल काम-कंदला आदि ऐकांतिक प्रेम-कहानियों का भी भारतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ। ये कहानियां अरब फ़ारस की प्रेम-पद्धति के अधिक मेल में थीं। नल-दमयन्ती की प्रेम-कहानी का अनुवाद बहुत पहले फ़ारसी

अरबी तक में हुआ। इन कहानियों का उल्लेख पद्मावत में स्थान स्थान पर हुआ है।

जायसी ने यद्यपि इश्क के दास्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है पर बीच-बीच में भारत के लोक व्यवहार-संलग्न स्वरूप का भी मेल किया है। इश्क की मसनवियों के समान 'पद्मावत' लोकपक्ष शून्य नहीं है। राजा जोगी होकर घर से निकलता है, इतना कहकर कवि यह भी कहता है कि चलते समय उसकी माता और रानी दोनों उसे रो-रो कर रोकती हैं। जैसे कवि ने राजा से संयोग होने पर पद्मावती के रसरंग का वर्णन किया वैसे ही सिंहल-द्वीप से विदा होते समय परिजनों और सखियों से अलग होने का स्वाभाविक दुःख भी। कवि ने जगह जगह पद्मावती को जैसे चन्द्र, कमल इत्यादि के रूप में देखा है वैसे ही उसे प्रथम समागम से डरते, सपत्नी से झगड़ते और प्रिय के हित के अनुकूल लोक व्यवहार करते भी देखा है। राघव चेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना खास कंगन दान देकर संतुष्ट करना चाहती है। प्रेम का लोकपक्ष कैसा सुन्दर है! लोकव्यवहार के बीच भी अपनी आभा का प्रसार करने वाली प्रेम-ज्योति का महत्त्व कुछ कम नहीं।

जायसी ऐकान्तिक प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के बीच बीच में जीवन के और और अंगों के साथ भी उस प्रेम के संपर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं इससे उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है। पर है वह प्रेम गाथा ही, पूर्ण जीवन-गाथा नहीं। ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध—आधे से अधिक भाग—तो प्रेम-मार्ग के विवरण से ही भरा है। उत्तरार्द्ध में जीवन के और और अंगों का सन्निवेश मिलता है, पर वे पूर्णतया परिस्फुट नहीं हैं। दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियों जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है वे यात्रा, युद्ध, सपत्नी-कलह, मातृ-

स्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व है। पर इनके होते हुए भी 'पद्मावत' को हम शृंगाररस-प्रधान काव्य ही कह सकते हैं। 'रामचरित' के समान मनुष्य-जीवन की भिन्न-भिन्न बहुत सी परिस्थितियों और सम्बन्धों का इसमें समन्वय नहीं है।

तोते के मुँह से पद्मावती रूप-वर्णन सुनने से राजा रत्नसेन को जो पूर्वराग हुआ अब उस पर थोड़ा विचार कीजिए। देखने में तो वह उसी प्रकार का जान पड़ता है जिस प्रकार का हंस के मुख से दमयन्ती का रूप-वर्णन सुनकर नल को या नल का रूप-वर्णन सुनकर दमयन्ती को हुआ था। पर ध्यान देकर विचार करने से दोनों में एक ऐसा अन्तर दिखाई पड़ेगा जिसके कारण एक की तीव्रता जितनी उपयुक्त दिखाई देगी उतनी दूसरे की नहीं। पूर्वराग में ही विप्रलंभ शृंगार की बहुत सी दशाओं की योजना श्री हर्ष ने भी की है और जायसी ने भी। पूर्वराग पूर्णरति नहीं है, अतः उसमें केवल 'अभिलाष' स्वाभाविक जान पड़ता है; शरीर का सूखकर काँटा होना, मूर्च्छा, उन्माद आदि नहीं। तोते के मुँह से पहले ही पहल पद्मावती का वर्णन सुनते ही रत्नसेन का मूर्छित हो जाना और पूरा वियोगी बन जाना अस्वाभाविक सा लगता है। पर हंस के मुँह से रूपगुण आदि की प्रशंसा सुनने पर जो विरह की दारुण दशा दिखाई गई है वह इसलिए अधिक नहीं खटकती कि नल और दमयन्ती दोनों बहुत दिनों से एक दूसरे के रूप-गुण की प्रशंसा सुनते आ रहे थे जिससे उनका पूर्वराग 'मंजिष्ठा राग' की अवस्था को पहुँच गया था।

जब तक पूर्वराग आगे चलकर पूर्ण रति या प्रेम के रूप में परिणत नहीं होता तब तक उसे हम चित्त की कोई उदात्त या गंभीर वृत्ति नहीं कह सकते। हमारी समझ में तो दूसरे के द्वारा—चाहे वह चिड़िया हो या आदमी—किसी पुरुष या स्त्री के रूप गुण आदि को सुनकर चट उसकी प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न करनेवाला भाव लोभ मात्र कहला सकता है, परिपुष्ट प्रेम नहीं। लोभ और प्रेम के लक्ष्य

सामान्य और विशेष का ही अन्तर समझा जाता है। कहीं कोई अच्छी चीज़ सुनकर दौड़ पड़ना यह लोभ है। कोई विशेष वस्तु—चाहे दूसरे के निकट वह अच्छी हो या बुरी—देख उसमें इस प्रकार रम जाना कि उससे कितनी ही बढ़कर अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उनकी ओर ध्यान न जाय, प्रेम है। व्यवहार में भी प्रायः देखा जाता है कि वस्तु-विशेष के ही प्रति जो लोभ होता है वह लोभ नहीं कहलाता। जैसे, यदि कोई मनुष्य पकवान या मिठाई का नाम सुनते ही चंचल हो जाय तो लोग कहेंगे कि वह बड़ा लालची है, पर यदि कोई केवल गुलाबजामुन का नाम आने पर चाह प्रगट करे तो लोग यही कहेंगे कि इन्हें गुलाबजामुन बहुत अच्छी लगती है। तत्काल सुने हुए रूप-वर्णन से उत्पन्न 'पूर्वराग' और 'प्रेम' में भी इसी प्रकार का अन्तर समझिए। पूर्वराग रूप-गुण-प्रधान होने के कारण सामान्योन्मुख होता है, पर प्रेम व्यक्ति-प्रधान होने के कारण विशेषोन्मुख होता है। एक ने आकर कहा, अमुक बहुत सुन्दर है; फिर कोई दूसरा आकर कहता है कि अमुक नहीं अमुक बहुत सुन्दर है। इस अवस्था में बुद्धि का व्यभिचार बना रहेगा। प्रेम में पूर्ण व्यभिचार-शांति प्राप्त हो जाती है।

कोई वस्तु बहुत बढ़िया है, जैसे यह सुनकर हमें उसका लोभ हो जाता है वैसे ही कोई व्यक्ति बहुत सुन्दर है इतना सुनते ही उसकी जो चाह उत्पन्न हो जाती है वह साधारण लोभ से भिन्न नहीं कही जा सकती। प्रेम भी लोभ ही है, पर विशेषोन्मुख। वह मन और मन के बीच का लोभ है, हृदय और हृदय के बीच का सम्बन्ध है। उसके एक पक्ष में भी हृदय है और दूसरे पक्ष में भी। अतः सच्चा सजीव प्रेम प्रेमपात्र के हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न पहले करता है, शरीर पर अधिकार करने का प्रयत्न पीछे करता है या नहीं भी करता है। सुन्दर स्त्री कोई बहुमूल्य पत्थर नहीं है कि अच्छा सुना और लेने के लिये दौड़ पड़े। इस प्रकार का दौड़ना रूप-लोभ ही कहा जायगा, प्रेम नहीं।

ही पद्मावती हूँ' और तोता भी सकारता तो रत्नसेन उसे स्वीकार ही कर लेता। ऐसी अवस्था में उसके प्रेम का लक्ष्य निर्दिष्ट कैसे कहा जा सकता है? अतः रूप-वर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है वह प्राकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ता।

राजा रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुन उसके लिये जोगी होकर निकल पड़ा और अलाउद्दीन ने राघव चेतन के मुँह से वैसा ही वर्णन सुन उसके लिये चित्तौर पर चढ़ाई कर दी। क्यों एक प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है और दूसरा रूप-लोभी लंपट के रूप में? अलाउद्दीन के विपक्ष में दो बातें ठहरती हैं—(१) पद्मावती का दूसरे की विवाहिता स्त्री होना और (२) अलाउद्दीन का उग्र प्रयत्न करना। ये ही दोनों प्रकार के अनौचित्य अलाउद्दीन की चाह को प्रेम का स्वरूप प्राप्त नहीं होने देते। यदि इस अनौचित्य का विचार छोड़ दें तो रूप-वर्णन सुनते ही तत्काल दोनों के हृदय में जो चाह उत्पन्न हुई वह एक दूसरे से भिन्न नहीं जान पड़ती।

रत्नसेन के पूर्वराग वर्णन में जो यह अस्वाभाविकता आई है इसका कारण है लौकिकप्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों का एक साथ व्यंजित करने का प्रयत्न। शिष्य जिस प्रकार गुरु से परोक्ष ईश्वर के स्वरूप का कुछ आभास पाकर प्रेममग्न होता है उसी प्रकार रत्नसेन [illegible]

[illegible]

[illegible]

का वर्णन किया है। पद्मावती को अभी तक रत्नसेन के आने की कुछ भी खबर नहीं है। अतः यह व्याकुलता केवल काम की कही जा सकती है, वियोग की नहीं। बाह्य या आभ्यन्तर संयोग के पीछे ही वियोग-दशा सम्भव है। यद्यपि आचार्यों ने वियोग-दशा को काम-दशा ही कहा है पर दोनों में अन्तर है। समागम के सामान्य अभाव [illegible] काम-वेदना है और विशेष व्यक्ति के समागम के अभाव का

ही पद्मावती हूँ' और तोता भी सकारता तो रत्नसेन उसे स्वीकार ही कर लेता। ऐसी अवस्था में उसके प्रेम का लक्ष्य निर्दिष्ट कैसे कहा जा सकता है? अतः रूप-वर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है वह प्राकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ता।

राजा रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुन उसके लिये जोगी होकर निकल पड़ा और अलाउद्दीन ने राघव चेतन के मुँह से वैसा ही वर्णन सुन उसके लिये चित्तौर पर चढ़ाई कर दी। क्यों एक प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है और दूसरा रूप-लोभी लंपट के रूप में? अलाउद्दीन के विपक्ष में दो बातें ठहरती हैं—(१) पद्मावती का दूसरे की विवाहिता स्त्री होना और (२) अलाउद्दीन का उग्र प्रयत्न करना। ये ही दोनों प्रकार के अनौचित्य अलाउद्दीन की चाह को प्रेम का स्वरूप प्राप्त नहीं होने देते। यदि इस अनौचित्य का विचार छोड़ दें तो रूप-वर्णन सुनते ही तत्काल दोनों के हृदय में जो चाह उत्पन्न हुई वह एक दूसरे से भिन्न नहीं जान पड़ती।

रत्नसेन के पूर्वराग वर्णन में जो यह अस्वाभाविकता आई है इसका कारण है लौकिकप्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों का एक साथ व्यंजित करने का प्रयत्न। शिष्य जिस प्रकार गुरु से परोक्ष ईश्वर के स्वरूप का कुछ आभास पाकर प्रेममग्न होता है उसी प्रकार रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मिनी का रूप-वर्णन सुन बेसुध हो जाता है। ऐसी ही अलौकिकता पद्मिनी के पक्ष में भी कवि ने दिखाई है।

राजा रत्नसेन के सिंहल पहुँचते ही कवि ने पद्मावती की बेचैनी का वर्णन किया है। पद्मावती को अभी तक रत्नसेन के आने की कुछ भी खबर नहीं है। अतः यह व्याकुलता केवल काम की कही जा सकती है, वियोग की नहीं। बाह्य या आभ्यन्तर संयोग के पीछे ही वियोग-दशा सम्भव है। यद्यपि आचार्यों ने वियोग-दशा को काम-दशा ही कहा है पर दोनों में अन्तर है। समागम के सामान्य अभाव दुःख काम-वेदना है और विशेष व्यक्ति के समागम के अभाव का

दुःख वियोग है। जायसी के वर्णन में दोनों का मिश्रण है। रत्नसेन
का नाम तक सुनने के पहले वियोग की व्याकुलता कैसे हुई, इसका
समाधान कवि के पास यदि कुछ है तो रत्नसेन के योग का अलक्ष्य
प्रभाव—

पदमावति तेहि जोग सँजोगा। परी प्रेम-बस गहे वियोगा॥

साधनात्मक रहस्यवाद योग जिस प्रकार अज्ञात ईश्वर के प्रति
होता है उसी प्रकार सूफियों का प्रेम-योग भी अज्ञात के प्रति होता
है। पर इस प्रकार के परोक्षवाद या योग के चमत्कार पर ध्यान जाने
पर भी वह वर्णन के अनौचित्य की ओर बिना गए नहीं रह सकता।
जब कोई व्यक्ति निर्दिष्ट हो नहीं तब कहाँ का प्रेम और कहाँ का
वियोग? इस काम दशा में पद्मावती को धाय समझा रही है कि
हीरामन सूआ आकर राजा रत्नसेन से रूप-गुण का वर्णन करता है
और पद्मावती उसकी प्रेम-व्यथा और तप को सुनकर द्रवार्द्र और
पूर्वराग-युक्त होती है। पूर्वराग का आरम्भ पद्मावती में यहीं से सम-
झना चाहिए। अतः इसके पहले योग की दुहाई देकर भी वियोग का
मान लेना ठीक नहीं जँचता।

विवाह हो जाने के पीछे पद्मावती का प्रेम दो अवसरों पर
...ना बल दिखाता है। एक तो उस समय जब राजा रत्नसेन के
...ली में बन्दी होने का समाचार मिलता है और फिर उस समय जब
...युद्ध में मारा जाता है। ये दोनों अवसर विपत्ति के हैं। साधा-
...दृष्टि से एक में आशा के लिये स्थान है, दूसरे में नहीं। पर सच्चे
...हुए प्रेमी के समान प्रथम स्थिति में तो पद्मावती संसार की ओर
...रखती हुई विह्वल और क्षुब्ध दिखाई पड़ती है; और दूसरी
...में दूसरे लोक की ओर दृष्टि फेरे हुए पूर्ण आनन्दमयी और
...। राजा के बन्दी होने का समाचार पाने पर रानी के विक्षु-
...हृदय में उद्योग और साहस का उदय होता है। वह गोरा और
...पास आप दौड़ी जाती है और रो-रो कर उनसे अपने पति के
...प्रार्थना करती है। राजा रत्नसेन के मरने पर रोना-धोना

ही पद्मावती हूँ' और तोता भी मकारता तो रत्नसेन उसे स्वीकार ही कर लेता। ऐसी अवस्था में उसके प्रेम का लक्ष्य निर्दिष्ट कैसे कहा जा सकता है? अतः रूप-वर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है वह प्राकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ता।

राजा रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुन उसके लिये जोगी होकर निकल पड़ा और अलाउद्दीन ने राघव चेतन के मुँह से वैसा ही वर्णन सुन उसके लिये चित्तौर पर चढ़ाई कर दी। क्यों एक प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है और दूसरा रूप-लोभी लपट के रूप में? अलाउद्दीन के विपक्ष में दो बातें ठहरती हैं—(१) पद्मावती का दूसरे की विवाहिता स्त्री होना और (२) अलाउद्दीन का उग्र प्रयत्न करना। ये ही दोनों प्रकार के अनौचित्य अलाउद्दीन की चाह को प्रेम का स्वरूप प्राप्त नहीं होने देते। यदि इस अनौचित्य का विचार छोड़ दें तो रूप-वर्णन सुनते ही तत्काल दोनों के हृदय में जो चाह उत्पन्न हुई वह एक दूसरे से भिन्न नहीं जान पड़ती।

रत्नसेन के पूर्वराग वर्णन में जो यह अस्वाभाविकता आई है इसका कारण है लौकिकप्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को एक साथ व्यंजित करने का प्रयत्न। शिष्य जिस प्रकार गुरु से परोक्ष ईश्वर के स्वरूप का कुछ आभास पाकर प्रेममग्न होता है उसी प्रकार रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मिनी का रूप-वर्णन सुन बेसुध हो जाता है। ऐसी ही अलौकिकता पद्मिनी के पक्ष में भी कवि ने दिखाई है।

राजा रत्नसेन के सिंहल पहुँचते ही कवि ने पद्मावती की बेचैनी का वर्णन किया है। पद्मावती को अभी तक रत्नसेन के आने की कुछ भी खबर नहीं है। अतः यह व्याकुलता केवल काम की कही जा सकती है, वियोग की नहीं। बाह्य या आभ्यन्तर संयोग के पीछे ही वियोग-दशा सम्भव है। यद्यपि आचार्यों ने वियोग-दशा को काम-दशा ही कहा है पर दोनों में अन्तर है। समागम के सामान्य अभाव का दुःख काम-वेदना है और विशेष व्यक्ति के समागम के अभाव का

आदि का प्रचार बढ़ रहा है। जायसी के भावुक हृदय ने स्वकीया के पुनीत प्रेम के सौंदर्य्य को पहचाना। नागमती का वियोग हिन्दी-साहित्य में विप्रलम्भ शृङ्गार का अत्यन्त उत्कृष्ट निरूपण है।

पुरुषों के बहु-विवाह की प्रथा से उत्पन्न प्रेम-मार्ग की व्यावहारिक जटिलता को जिस दार्शनिक ढंग से कवि ने सुलझाया है वह ध्यान देने योग्य है। नागमती और पद्मावती को झगड़ते सुनकर दक्षिण नायक राजा रत्नसेन दोनों को समझाता है—

> एक बार जेइ पिय मन बूझा। सो दुसरे सौं काहे जूझा ?
>
> देस आन मन आन न कोई। कबहुँ राति, कबहुँ दिन होई॥
>
> धूप छांह दूनौ एक रंगा। दूनौ मिले रहहिं एक संगा।
>
> जूझब छाँड़हु, बूझहु दोऊ। सेव करहु, सेवा-फल होऊ॥

कवि के अनुसार जिस प्रकार करोड़ों मनुष्यों का उपास्य एक ईश्वर होता है उसी प्रकार कई स्त्रियों का उपास्य एक पुरुष हो सकता है। पुरुष की यह विशेषता और उसकी सफलता उस स्थिति की भावना के कारण है जो बहुत प्राचीन काल से बद्धमूल है। इस भावना के अनुसार पुरुष स्त्री के प्रेम का ही अधिकारी नहीं है, पूज्य भाव का भी अधिकारी है। ऊपर की चौपाइयों में पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध की छाप दबाकर सेव्य-सेवक भाव पर जोर दिया गया है। इसी प्रकार की युक्तियों से पुरानी रीतियों का समर्थन प्रायः किया जाता है। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में कई स्त्रियों से विवाह करने की रीति बराबर से है अतः एक प्रेम-गाथा के भीतर भी जायसी ने उसका सन्निवेश करके बड़े कौशल द्वारा मन सम्बन्धी विवाद-शान्ति का उपदेश दिया है।

नहीं सुनाई देता। नागमती और पद्मावती दोनों शृङ्गार करके प्रिय से उस लोक में मिलने के लिये तैयार होती हैं। यह दृश्य हिन्दू-स्त्री के जीवन-दीपक की अत्यन्त उज्ज्वल और दिव्य प्रभा है, जो निर्वाण के पूर्व दिखाई पड़ती है।

राजा के बन्दी होने पर जिस प्रकार कवि ने पद्मावती के प्रेम-प्रसूत साहस का दृश्य दिखाया है उसी प्रकार सतीत्व की दृढ़ता का भी। पर यह कहना पड़ता है कि कवि ने जो कसौटी तैयार की है वह इतने बड़े प्रेम के उपयुक्त नहीं हुई। कुम्भलनेर का राजा देवपाल रूप, गुण, ऐश्वर्य, पराक्रम, प्रतिष्ठा किसी में भी रत्नसेन की बराबरी का न था। अतः उसका दूती भेजकर पद्मावती का बहकाने का प्रयत्न गड़ा हुआ खम्भा ढकेलने का बाल-प्रयत्न सा लगता है। इस घटना के सन्निवेश से पद्मावती के सतीत्व की उज्ज्वल कान्ति में और अधिक ओप चढ़ती नहीं दिखाई देती। यदि यह दूती दिल्ली के बादशाह की होती और वह दिल्लीश्वर की सारी शक्ति और विभूति का लोभ दिखाती तो अलबत्ता यह घटना किसी हद तक इतने बड़े प्रेम की परीक्षा का पद प्राप्त कर सकती थी, क्योंकि देवलदेवी और कमलादेवी के विपरीत आचरण का दृष्टान्त इतिहासविज्ञ जानते ही हैं।

पद्मावती के नव-प्रस्फुटित प्रेम के साथ साथ नागमती का गार्हस्थ्य-परिपुष्ट प्रेम भी अत्यन्त मनोहर है। पद्मावती प्रेमिका के रूप में अधिक लक्षित होती है, पर नागमती पति-प्राणा हिन्दू-पत्नी के मधुर रूप में ही हमारे सामने आती है। उसे पहले-पहल हम रूपगर्विता और प्रेम-गर्विता के रूप में देखते हैं। ये दोनों प्रकार के गर्व दाम्पत्य सुख के द्योतक हैं। राजा के निकल जाने के पीछे फिर हम उसे प्रोषित-पतिका के उस निर्मल स्वरूप में देखते हैं, जिसका भारती काव्य और संगीत में प्रधान अधिकार रहा है, और है। यह देखकर अत्यन्त दुःख होता है कि प्रेम का यह पुनीत भारतीय स्वरूप विदेशीय प्रभाव से—विशेषतः उर्दू शायरी के चलते गीतों से—हटता सा जा रहा है। यार, महबूब, सितम, तेग़, खंजर, जख़म, आबले, खून और मवाद

की ओर चलने में उसे सुविधा मालूम देती हैं, पर देश और जाति के स्थायी साहित्य में यह नीचे की ओर लुढ़कना स्थान न पा सकेगा।

आप यह न समझें कि मैं साहित्य के लिए किसी रूढ़िबद्ध ऊँची नीति अथवा आदर्शवाद की सिफारिश कर रहा हूँ। ऐसा करना बिल्कुल ही मेरा लक्ष्य नहीं है। किसी बँधी-बँधाई लोक अथवा नपे-तुले आदर्शों के पैमाने पर साहित्य को प्रगति और उसका उन्नयन नहीं हो सकता। बदलते हुए समय के साथ प्रगति का मार्ग भी बदलेगा। हमारे आदर्शों में भी परिवर्तन और उलटफेर होंगे। मेरा आग्रह केवल इतना है कि हम आँख मूँद कर किसी वस्तु को न लें। न हम आए हुए प्रभावों अथवा नवीनता के झोंके में बह जाएँ और न विगत आदर्शों का स्वप्न देखते रहें। निराशा के लिए निराशा की फुलझड़ियाँ बरसाना हम साहित्य में बन्द कर दें और साथ ही आकाशकुसुमों की आशा भी छोड़ दें।

मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि साहित्य से करुणरस को अथवा ऊँची आदर्शात्मक कल्पनाओं को उठा देना होगा। उठाना या बैठाना हमें किसी को नहीं, साहित्य में आशा और निराशा, करुणा और वीर सब के लिए समान स्थान है और रहेगा, किन्तु उनकी नियोजना प्रगतिमूलक और उद्देश्ययुक्त करना होगा निरुद्देश और [illegible] नहीं। शेक्सपियर के दुखान्त नाटक अथवा भवभूति का उत्तर रामचरित करुणा से भरे हुए हैं किन्तु क्या वे शक्तिहीनता और निर्बलता उत्पन्न करते हैं? नहीं वे हमारी भावना को इस प्रकार स्पर्श करते हैं कि उनमें जीवन के सुन्दर पक्षों के प्रति आस्था बढ़ती है [illegible] इसी [illegible] को [illegible] करना होगी और यह सब होगा जब हम साहित्य को [illegible] जीवन के साथ संबद्ध किये रहेंगे।

साहित्य के [illegible] जीवन के संबद्ध [illegible] का मतलब सिर्फ इतना है कि [illegible] साहित्य में [illegible] न हो जाय। हम मृत्यु के [illegible] के उपासक न बन जायें।

निराशा और आत्मपीड़न को अर्घ्य न देने लगें। इसका यह आ
नहीं कि साहित्य में निराशामूलक प्रवृत्तियों का चित्रण ही न कि
जाय; किया वह अवश्य जाय पर आदर्श बनाकर नहीं, रचनाक
स्वयं उनमें अभिभूत होकर जीवन का लक्ष्य न छोड़ दे। जीवन
लक्ष्य है जीना। जीना जितना ही व्यापक और समुन्नत स्वरूप धार
कर सके उतनी ही साहित्यकार को कृतकार्यता होगी। यहाँ फिर कहूँ
कि जीने का व्यापक और समुन्नत स्वरूप कोई रूढ़िबद्ध वस्तु नहीं है
किन्तु वह सचेत सतत विकास है।

अक्सर यह प्रश्न उठाया जाता है कि जब सारा समाज
निराश के गर्त में गिरा हुआ है तब वह आशा के गीत कैसे गाए?
मैं आशा के गीतों का आग्रह नहीं करता। मेरा आग्रह केवल इतना
है कि हम आत्मविस्मृत न हों, यह जाने रहें कि हम संप्रति निराशा
के गर्त में गिरे हुए हैं। किन्तु यह स्थायी गिरना नहीं।

क्या इस सूत्र को मैं बुद्धिवाद या बुद्धिसूत्र कहूँ? बहुत व्यापक
अर्थ में इसे यह नाम दे सकूँगा। आप पूछेंगे व्यापक अर्थ से मेरा
आशय क्या है। आशय यह है कि वाद के रूप में बुद्धिवाद कुछ
मोटी रेखाओं के भीतर घिरा है। साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास
में ऐसे युग आए हैं और आ सकते हैं जिसमें यह मोटी रेखाओं वाला
बुद्धिवाद सहायक नहीं हुआ या न हो (उदाहरण के लिए बुद्धिमूलक
से पहले विश्वासमूलक प्रगतियां भी हुई हैं) किन्तु प्रगतिशील चेतना
रूप में बुद्धि सदैव विकास के साथ रही है।

यदि इस सूत्र के कुछ बाहरी निदर्शन या दृष्टान्त आप चाहें
तो मोटे तौर पर मैं नीचे के निदर्शन दूंगा। १—अति शृंगारोन्मुख
प्रवृत्तियाँ ([illegible]) प्रगति के विरुद्ध हैं। २—अति उदासीन
प्रवृत्तियाँ प्रगति मूलक नहीं। ३—केवल कौतूहल प्रगति की बड़ी वस्तु
नहीं। ४—केवल मनोरंजन प्रगति के लिए पर्याप्त नहीं। ५—बाह्य
संघर्ष की अपेक्षा बौद्धिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष प्रगतिशील

साहित्य में अधिक महत्त्व रखते हैं। ये दृष्टान्त मैं साहित्यिक इति
के आधार पर दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि ये वैज्ञानिक भी है

यह तो हुआ प्रगतिशील साहित्यिक का प्रथम सूत्र। इ
आत्मचेतना अथवा जीवनचेतना के नाम से पुकारूँगा। इसके अ
में साहित्य सच पूछिए तो साहित्य-पद का अधिकारी नहीं होता।
क्षयशील कला भी क्या कला कहला सकती है जो मृत्यु, आत्मपी
अथवा जीवनशोषण की ओर प्रगतिशील हो? इसके उत्तर में मं
है कुछ लोग कहें कि जीर्ण जीवन की अनिवार्य समाप्ति मृत्यु मे
होगी और नवीन जीवन का उद्भव उसके पश्चात् ही होगा। ज
जीवन का अन्त मृत्यु ठीक है किन्तु क्या यह मृत्यु हमारा आ
हो सकती है? आदर्श तो हमारा जीवन ही होगा। क्षय के लिए
और मृत्यु की वंदना हम किसी प्रकार प्रतिपादित नहीं कर सक
दूसरे शब्दों में हम ह्रासोन्मुख या जीवन-विघातिनी कला की
कहकर प्रशंसा नहीं कर सकेंगे।

प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र है परिवर्तन के क्रम
समझना, नवीन समस्याओं के संपर्क में आना और नवीन ज्ञान
उपयोग करना। यह भी जागरूक और दृष्टिसंपन्न साहित्यिकों के
वश का काम है। जो कवि सामयिक जीवन की जितनी ही महा
हलचलों के बीच से गुजरेगा और साथ ही जितना ही अनुभव-प्रव
होगा उसकी साहित्यिक संभावनाएँ उतनी ही विशाल होंगी। अप
प्रशस्त कल्पना के द्वारा जो वर्तमान हलचलों का यथार्थ स्वरूप औ
आगत की झलक जितनी स्पष्टता से देख सकेगा वह उतना ही ब
साहित्यकार होगा। रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र की बड़ी प्रति
भारतीय साहित्य में इतनी अधिक क्यों है? केवल इसलिए नहीं
उनमें बड़े ऊँचे दर्जे की काव्य प्रतिभा है या थी, परन्तु इसलिए भ
कि वे परिवर्तनशील समय और उसकी आवश्यकताओं का निरूप
साहित्य में पीछे न पड़ने कर सके। सामने आए हुए और आगे
आने वाली समस्याओं को पहचानने और उनका हल ढूँढने में वे

नहीं परखी जा सकेगी। उसकी परीक्षा उक्त कला या साहित्य-वस्तु के प्रभाव के अन्तर्गत करनी होगी।

उदाहरण के लिए जैनेन्द्रकुमार के इस नग्नताप्रसंग को ही लीजिए। इसके गुण-दोष की परीक्षा हमें इस परिस्थिति के बीच रख कर करनी होगी जो उपन्यास में आई हुई है। कला में नग्नता स्वतः कोई भली या बुरी वस्तु नहीं। श्रीमद्भागवत और महाकवि सूरदास ने तो सोलह सहस्र गोपियों का चीरहरण कराया है। ईसाई मूर्तिकला के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य कतिपय नग्न प्रदर्शनों का माना जाता है। यह कहकर मैं श्री जैनेन्द्रकुमार की ओर से सफाई नहीं पेश कर रहा न यही इज़हार दे रहा हूँ कि कलाकृति की समीक्षा में रचयिता की मानसिक-अन्तर्चेतना का प्रश्न नहीं उठता। मेरा कहना केवल इतना है कि कला में की गई कोई भी वस्तु-योजना कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से परखी जानी चाहिए।

उदाहरण के लिए हम 'त्यागपत्र' नामक उपन्यास को लेते हैं। यदि इसकी समीक्षा मनोविश्लेषण की दृष्टि से की जाय तो विश्लेषक अपना अधिक समय नायिका मृणाल के चरित्र सम्बन्धी अस्वाभाविक झुकावों की ओर देगा। मृणाल की बेंतों से मार खाने की इच्छा अपने भतीजे की गोद में मरना, उससे लिपटना और उसे लिटाना आदि की मीमांसा वह करेगा। यदि रचना वस्तुवादी या [illegible] परीक्षक की हो जाय तो वह सूचित करेगा कि इस उपन्यास में [illegible] महिमा का प्रचार करने के लिए उपन्यासकार अपनी नायिका को अनायास कष्टों के पार्श्व में डालता है। वह कहेगा कि मृणाल जैसी तेजस्विनी रहने वाली का यदि विवाह न करना तब कर लेना तो उसका विवाह ही उस व्यक्ति से न होता जिसे वह नहीं चाहती और तब विवश विवाह की समस्या को इस रूप में रहने का अवसर ही न आता। [illegible] अपनी अनिच्छा से विवाहित हुई है वह विवाह होने के [illegible] [illegible] अनुकूल [illegible] पड़ जाते। वह [illegible] का उस [illegible] के अनुकूल बना [illegible] कि [illegible]

के बाहर सत्याग्रह करें पर भीतर सारे नियमों का पालन। किन्तु यह विद्रोही मनोवृत्ति के विकास के उपयुक्त नहीं। इसी प्रकार वह यह भी कहेगा की उपन्यास की नायिका किसी क्रमबद्ध मनोविज्ञान के आधार पर नहीं चलती, बल्कि एक अहिंसावादी सिद्धान्तविशेष की पुष्टि के लिए भाँति-भाँति की परिस्थितियों में डाली जाती और आचरण करती है। किन्तु कला समीक्षक इन पहलुओं पर ही ध्यान न देकर यह भी जानना चाहेगा की उपन्यास विषम-विवाह का समस्या पर (जो इस उपन्यास में आयोजित है) कैसी गहरी चोट करने में सफल हुआ है। उसे यह अवश्य अनुभव होगा कि मृणाल आज की परवश नारी और विवश कन्या की प्रतीक बनाकर दिखाई गई है। प्रचारात्मक अधिकांश कृतियों की भाँति इसमें भी कुछ दोष हैं अति-रंजना के। अस्पष्टता इस उपन्यास का दुर्गुण बन गया है, पर इसके प्रभावात्मक गुणों की अवहेलना नहीं की जा सकेगी।

यहीं हम प्रगतिशील साहित्य के तीसरे सूत्र को पकड़ते हैं, जिसे हम कला निर्माण का सूत्र कहेंगे। ऊपर श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री प्रेमचन्द का हवाला आ चुका है। वहाँ मैंने यह संकेत किया है कि ये दोनों अपने समय के प्रगतिशील साहित्यकार थे किन्तु ये आज के हमारे नेता नहीं हैं। उनका स्थान इतिहास में हो गया है। यह एक पक्ष की बात है। उनका एक दूसरा पक्ष है कला-निर्माण का क्योंकि ये कोरे विचारक नहीं हैं कवि और कलाकार भी हैं; इस दृष्टि से उनकी रचनाएँ सब समयों में पढ़ी जावेंगी और समधिक आनन्द प्रदान करेंगी। जिन क्षणों में हम किसी विचारात्मक दृष्टि से अनु-शासित नहीं होते, केवल काव्य का आस्वादन करना चाहते हैं उन क्षणों में कवियों के कला-निर्माण का पक्ष प्रमुख होकर हमारे सामने आता है। तब हम यह नहीं सोचते कि उसने क्या कहा है और किस वर्ग के लिए कहा है, बल्कि यह जानना चाहते हैं कि उसने मानव जीवन के किन पहलुओं पर प्रकाश डाला है, जीवन का समष्टि स्वरूप कैसा खड़ा किया है। किस दशा में वह हमें प्रभावित कर सका और

र्शन नहीं हैं कला-शैलियां मात्र हैं)। इसी प्रकार 'रयलिज़
वस्तुवाद साहित्यिक और कलात्मक अभिव्यक्ति का एक क्रम
से आज आध्यात्मिक या आदर्शात्मक जीवनदर्शन का विरोध
ना जाता है। यह क्रान्ति इन दिनों हमारे साहित्य में खूब फैल
है।

कालिदास के अभिज्ञान—शाकुन्तल में अँगूठी खो जाने के
ग से नाटक में अमित आकर्षण की सृष्टि हुई है। इसी प्रकार
पियर अपने नाटकों में आकस्मिक संयोगों की नियोजना से
को तीव्र आकर्षणमय बनाता है। आज हम एक बुद्धिवादी युग
यास करते हैं। इसलिए संयोग नियोजन को हल्की कला-
का उपक्रम मानते हैं। हम अधिक विश्वसनीय और सुसंगत
र नवीन कला को चाहते हैं। उसे हम पा सके हैं या नहीं
रा प्रश्न है। यह तो मैंने एक उदाहरण मात्र दिया। हमारा
कला निर्माण की दिशा में भी अनेकमुखी प्रगतिशील
क्य है। यह साहित्य और कला के लिए शुभ लक्षण है।
कला-निर्माण का पक्ष साहित्य का प्रधान पक्ष है। इसके
परीक्षित होने पर उन समस्त अनधिकारियों की पोल खुल
जो साहित्य के बाहर बड़े विचारक, जीवन समस्या को
वाले दार्शनिक अग्रगामी बना करते हैं। निश्चय ही वे अपने
ग्रगामी होंगे, किन्तु साहित्य में आने पर तो इनकी जाँच
हित्य कसौटी पर होगी। संभव है, इन्होंने बहुत बड़ा
ने की (महाकाव्य या बड़ा उपन्यास तैयार करने की)
हो पर नक्शे का बड़ा होना ही उनके असफल हो जाने
बन सकता है। बड़े नक्शे का सजाना, सजीव करना,
कथाओं अन्तर्कथाओं को यथास्थान नियोजित करना
रचयिता के अन्तर्निहित प्राण-प्रवाह का प्रवेश करना
का प्रत्येक रेखा का सम्योजन सुसम्बद्ध और गुम्फित
साधारण कलाकार का काम नहीं वह साधारण

व्यक्तित्व और कौशल पर अवलंबित है। इसी व्यक्तित्व का काव्य-कला में विकास कम नौटंकी से लेकर प्रशस्त जीवन चित्रों की और विशाल मानसिक योजना तक देखा जा सकता है।

किन्तु एक बात मैं यहां अवश्य कहूँगा। जिन मानसिक उद्वेलनों और विचारचक्रों का सृजन हमारे युग में हो रहा है वे ही उत्कृष्ट काव्य के रूप में परिणत होने के अधिक योग्य हैं। हम यहां एक बात कह सकेंगे कि जिस युग में जितने ही बलशाली उद्वेजन जिस दिशा में उठेंगे उन उद्वेजनों को लेकर उतने ही महान् साहित्यकार के जन्म लेने की सम्भावना उस दिशा में होगी। रूसी और फ्रान्सीसी क्रान्तियुगों के साहित्यिक इतिहास से यह कथन परिपुष्ट हो जाता है। कोई भी विराट उथल-पुथल का युग एक असाधारण मानसिक क्रियाशीलता लेकर आता हा है। आवश्यकता केवल एक ऐसे संयोग की होती है कि कोई रचनाशील मस्तिष्क उस महान् उथल-पुथल को साकार कर दे, उस क्रियाशीलता की विस्तृत छाप छोड़ जाय—अर्थात् उत्कृष्ट कोटि की साहित्यिक रचनायें दे जाए। किन्तु इस बात का आग्रह फिर भी नहीं किया जा सकता कि वे रचनाएं बाह्यरूप से किसी परिपाटी विशेष अथवा किसी वाद विशेष के अनुकूल हों। इसलिए जो लोग काव्य में किन्हीं वादों को रखने का हठ करते हैं जैसा कि कतिपय 'प्रगतिशील-साहित्यवादी' आज कर रहे हैं। यही नहीं उन वादों के काव्योत्कर्ष का प्रभाव रचनाकार पर पड़ता ही है उसे किसी प्रकार की अभिव्यक्ति विशेष के लिए बाध्य क्यों किया जाय ?

आज हिन्दी में श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के कौन से क्षेत्र हैं ? निश्चय ही समाजवादी विचारों के क्षेत्र। क्यों ? क्योंकि उन्हीं क्षेत्रों ने इस समय नवीन प्रतिभा को आकर्षित कर रखा है। क्यों नहीं आज प्रचलित धार्मिक क्षेत्रों में श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाएँ और सुन्दर कला-निर्माण हो रहा है ? क्यों आज वे पुरानी अनुकृति से ही अथवा दूसरे नवीन क्षेत्रों की प्रगतिशील शैलियां को अपना कर ही सन्तोष कर रहे हैं। स्वतः नई भूमि क्यों नहीं तैयार करते। स्पष्ट ही इसलिए

भी सुमित्रानंदन पंत की कुछ नवीन रचनाओं को, केवल कम्यूनिस्ट छाप के कारण सराहना की जा रही है उपदेशात्मकता में वे तीस साल पूर्व की कविताओं की ओर बढ़ रही हैं और शृंगारिकता में विहारीलाल से होड़ करती हैं।)

ऊपर मैंने जिन तीन प्रगतिशील सूत्रों का उल्लेख किया वे साहित्य और कलाओं में एक दूसरे से मिले रहते हैं। यही नहीं, वे एक दूसरे को वेष्टित करते और सुदृढ़ बनाते है। ये सूत्र जब साहित्य में एक साथ प्रथित हैं तब इनका पृथक् पृथक् निरूपण करने में न केवल कुछ कठिनाई होती है बल्कि यह शंका भी उत्पन्न होती है कि क्या ये एक दूसरे से पृथक् किए भी जा सकते हैं। यहाँ मैंने इनका अलग-अलग निर्देश इसलिए किया है कि इनको मैं तीन पृथक् प्रवृत्तियाँ मानता हूँ जो संयुक्त होकर भी अपने-अपने विशिष्ट प्रकार से साहित्य अथवा कला का उन्नयन करती हैं।

अब मैं आपका अधिक समय नहीं लूंगा, किन्तु अपना यह वक्तव्य समाप्त करने के पूर्व मैं आप लोगों के सामने (जो अधिकांश हिन्दी प्रान्त के निवासी नहीं हैं) अपने साहित्य के उन तीन नवीन उत्थानों के विशिष्ट रचनाकारों के नामों का संक्षेप में उल्लेख करूँगा जिन उत्थानों का जिक्र मैंने अपने वक्तव्य के आरम्भ में किया है। यहाँ इन उन्नयकों की विशेषताओं का प्रदर्शन नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि उसके लिए समय पर्याप्त नहीं। किन्तु नामावली स्वतः अपना उपयोग रखती है। आप चाहें तो इनमें से एक या अनेक का रचनासौष्ठव देखने के लिए इनका अध्ययन करें और अपने-अपने प्रान्तीय साहित्यकारों की तुलना में इन्हें रख कर देखें। ये नाम मैंने अपनी रुचि से छांटे हैं इसलिए इनकी जिम्मेदारी स्वभावतः मुझ पर ही है। अतः मैं सबसे पहले उन महानुभावों से क्षमा लूँगा जिनके नाम इस छोटे पैमाने में नहीं आ सके हैं।

मैं यह कह चुका हूँ कि हमारा साहित्य पिछले तीस वर्षों में तीन प्रगतिशील आन्दोलनों का सृजन-संचालन कर चुका है। एक तो

श्री जयशंकर प्रसाद हैं। प्रतिभा, कल्पना, अध्ययन और बौद्धिक अन्तर्दृष्टि में वे अपने साहित्ययुग के अन्यतम व्यक्ति थे। साहित्य-निर्माण में इनका सा बहुमुखी विस्तृत और प्रतिनिधिमूलक कार्य किसी ने नहीं किया।

इस कल्पनाप्रधान विद्रोही युग की सामयिक प्रतिक्रिया आरम्भ हुई राजनीति में समाजवादी विचारों के आगमन और अन्तर राष्ट्रीय पी० ई० एन० क्लब की हिन्दी-स्थापना के पश्चात्। इस क्लब की सदस्यता हिन्दी में मुँह माँगे मिल रही थी इसलिए बहुत से अयाचित और अनाकांक्षित व्यक्ति इसमें आरम्भ से ही सम्मिलित हो गए। जिन्हें साहित्य के राजद्वार से मार्ग नहीं मिला वे इस रास्ते घुस आए। फिर संभवतः इस क्लब को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से इसमें श्री सुमित्रानन्दन पंत जैसे भिन्नरुचि व्यक्ति का प्रवेश कराया गया और उन्हें प्रगति सूत्र सौंपा गया। यह सारी चेष्टा ऊपर-ही-ऊपर चल रही थी। काव्यक्षेत्र में इसके पनपने के लिए जमीन तैयार नहीं की गई।

जमीन आगे चल कर तैयार हुई पर स्वतंत्र उद्योगों से उसका अधिनायकत्व पंत को नहीं मिल पाया, वह मिला 'बच्चन' और 'अंचल' को; जिन्होंने काव्यक्षेत्र में नई भाषा चलाई, नई भाव-धारा प्रवाहित की। कथा साहित्य में उसके उन्नायक 'अज्ञेय' और यशपाल आदि हैं। नाटकों में नवीन कार्य लक्ष्मीनारायण मिश्र ने आरम्भ किया और अब भुवनेश्वर प्रसाद आदि चला रहे हैं। विचारों के क्षेत्र में इस नई हलचल का प्रतिनिधि मैं डॉक्टर हेमचन्द्र जोशी को मानता हूँ, यद्यपि अब वे इस क्षेत्र में नहीं हैं। मेरा विश्वास है कि अब भी यह आन्दोलन अपनी गहरी नींव नहीं जमा सका है और इसका स्वाभाविक कारण यही है कि रचनात्मक कार्य की अपेक्षा, प्रचार और प्रदर्शन की ओर हमारी अधिक अभिरुचि है। दूसरी बात यह है कि प्रतिक्रिया के रूप में इसके उच्छृंखल पक्षों ने जोर पकड़ रखा है।

भारत-भारती

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती छप गई। इस नोट के निकलने के पहले ही यह शायद प्रकाशित हो जाय। इसके दो संस्करण निकलने वाले हैं। एक राजसंस्करण दूसरा साधारण संस्करण। पहला संस्करण ६० पौण्ड के मोटे चिकने आर्ट पेपर पर छपा है। उस पर कपड़े की स्वर्ण वर्णांकित जिल्द रहेगी। मूल्य होगा २) कापी। दूसरे संस्करण की कापियाँ मामूली मोटे काग़ज़ पर छपी हैं। उन पर साधारण जिल्द रहेगी। मूल्य १) कापी होगी। छपाई निर्णयसागर प्रेस की है। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग है। यह पुस्तक बाबू रामकिशोर गुप्त, चिरगाँव, जिला झाँसी को लिखने से मिलेगी।

यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। जो कितने ही अंश सरस्वती में निकल चुके हैं, उनसे इसके महत्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है; भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योग शील बनाने वाला है; आत्म विस्मृतों को पूर्वस्मृति दिलाने वाला है; निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है; उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है; यह पूर्व पुरुषों के विषय में भक्ति भाव का उन्मेष कर सकता है; यह सुख, समृद्धि, कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इसमें इस भारत की मृतप्राय नसों में शक्ति का संचार हो सकता है उनमें फिर सजीवता आ सकती है, क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिल

भारत-भारती

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती छप गई। इस नोटिस के निकलने के पहले ही वह शायद प्रकाशित हो जाय इसके दो संस्करण निकलने वाले हैं। एक राजसंस्करण दूसरा साधारण संस्करण। पहला संस्करण ६० पाउण्ड के मोटे चिकने आर्ट पेपर पर छपा है। उस पर कपड़े की स्वर्ण वर्णांकित जिल्द रहेगी। मूल्य होगा २) कापी। दूसरे संस्करण की कापियां मामूली मोटे कागज पर छपी हैं। उन पर साधारण जिल्द रहेगी। मूल्य १) कापी होगी छपाई निर्णयसागर प्रेस की है। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग है। यह पुस्तक बाबू रामकिशोर गुप्त, चिरगांव, जिला झांसी को लिखने से मिलेगी।

यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उपस्थित करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। जो जितने ही अंश सरस्वती में निकल चुके हैं, उनसे इसके महत्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोते हुओं को जगाने वाला है; भूले हुओं को ठीक राह पर लाने वाला है, निरुद्योगियों को उद्योग शील बनाने वाला है; आत्म-विस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलाने वाला है; निरुत्साहियों को उत्साहित करने वाला है; उदासीनों के हृदयों में उत्तेजना उत्पन्न करने वाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है, यह पूर्व पुरुषों के विषय में भक्ति भाव का उद्रेक कर सकता है; यह सुख, समृद्धि, कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इसमें इस भाषा का मूलभाव तथा धे शक्ति का संचार हो सकता है, उसमें फिर [illegible] हो सकता है, क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिलता

उत्तेजित नागों ने सम्राट से बदला लेने का यह अच्छा अवसर समझा
के घोड़े को रोक लिया। दोनों जातियों में युद्ध होने लगा। नागों को
पकड़ कर अग्नि में जला दिया गया परन्तु तक्षक वहाँ से निकल
भागा। आर्यों की विजय हुई। इधर तक्षक और काश्यप ने एक नई
चाल सोची। जिस समय घोड़ा यज्ञशाला में आ गया और उसकी
पूजा करने के लिए एक रात्रि निश्चित हो गई, उसी रात्रि को तक्षक
साम्राज्ञी वपुष्टमा और सरमा को लेकर वहाँ से भागा परन्तु आस्तीक
और माणवक द्वारा उनकी इन दोनों से रक्षा हुई। इसी झगड़े में
काश्यप की मृत्यु हो गई और तक्षक अपनी कन्या मणिमाला के
सहित बन्दी हुए। सरमा तथा वपुष्टमा महर्षि व्यास के आश्रम में
पहुँचा दी गईं। तक्षक के बन्दी होने पर नाग उन्हें बचाने के उपाय
सोचने लगे। पश्चात्ताप से दग्ध हुई मनसा ने भी उनका साथ दिया।
अन्त में आस्तीक, माणवक, सरमा और मनसा को लेकर महर्षि
व्यास वहाँ पहुँचे जहाँ तक्षक आहुति के लिए लाकर खड़े किए गये
थे। पहुँचते ही आस्तीक ने अपने पिता की मृत्यु के बदले तक्षक के
प्राणों की भिक्षा माँगी। सम्राट बाध्य थे, उन्होंने तक्षक को छोड़
दिया। व्यास के कहने पर आर्य सम्राट ने फिर से वपुष्टमा को
स्वीकार कर लिया और सरमा के अनुग्रह से मणिमाला को अंगीकार
किया। दोनों जातियों में संधि हो गई और शान्ति का राज्य स्थापित
हो गया।

वस्तुतः इस नाटक का कथानक महाभारत और हरिवंश
पुराण में वर्णित घटनाओं से लिया गया है। घटनायें सब ऐतिहासिक
हैं, केवल उनको नाटक का रूप देना लेखक का अपना प्रयास है।
सूक्ष्मतया देखने पर नाटक में चार घटनायें मुख्य हैं—

(१) उत्तंक का गुरु-दक्षिणा के लिए सम्राज्ञी वपुष्टमा से
तक्षक के मणि-कुण्डलों का लाना; उनको देखकर तक्षक का मदहत्या
पर उतारू होना; तक्षक से प्रतिशोध लेने के लिए उत्तंक का जनमेजय
को उत्तेजित करना।

है। तुमने कभी शरत् के विस्तृत व्योममण्डल में रुई के पहल के समान एक छोटा सा मेघखण्ड देखा है ? उसको देखते देखते विलीन होते या कहीं चले जाते भी तुमने देखा होगा। विशाल कानन की एक नन्हीं सी पत्ती के छोर पर विदा होने वाली श्याम रजनी के शोकपूर्ण अश्रु बिन्दु के समान लटकते हुए एक हिमकण को कभी देखा है ? और उसे लुप्त होते हुए भी देखा होगा। उसी मेघखण्ड या हिमकण की तरह मेरी भी विलक्षण स्थिति है। मैं कैसे कह सकता हूँ कि कहाँ रहता हूँ और कब तक रह सकूँगा ? मुझ से न पूछो।"

तिरस्कार से प्रत्युत्पन्न अपमान में सने हुए ये शब्द कैसे रसात्मक हैं। प्रतिशोध की आग में भभकते हुए हृदय में ये शब्द जीवन के प्रति किस के मन में ग्लानि का भाव पैदा नहीं करा देते ?

महर्षि व्यास और च्यवन के उपदेशों में शान्त का साम्राज्य है, परन्तु ये हृदय उदद्व में सकेरी के बराबर हैं। तक्षक, वासुकि, मणिभद्र और जन्मेजय के कृत्यों में वीरता है।

भाषा:—

भाषा क्लिष्ट है। कई दृश्य तो कविता के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

उद्देश्य:—

नाटककार का उद्देश्य प्रतीत होता है—"सारी सृष्टि, एक प्रेम की धारा में बहे और अनन्त जीवन लाभ करे।" इसीलिये लेखक ने आरम्भ में नागक मार्गों के वीभत्स कलह का दिग्दर्शन करा अपने नाटक को नाग और आर्यों के मिलन पर लाकर छोड़ा है। विश्वमैत्री का यही भाव पुस्तक में दिखाया गया है।

खेलने की दृष्टि से:

नाटक बिना काट छाँट किए नहीं खेला जा सकता; इसके कई कारण हैं। पात्रों की भाषा इतनी कठिन है कि साधारण जनता उसे